बहुवचन

हिंदी की अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक पत्रिका

सम्पादक

ए. अरविंदाक्षन

सह सम्पादक

कृष्ण कुमार सिंह, शंभु गुप्त

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,वर्धा का प्रकाशन

बहुवचन

अंतरराष्ट्रीय हिंदी त्रैमासिक

अंक : 28 (जनवरी-मार्च, 2011)

प्रकाशक : महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

आवरणः अशोक सिद्धार्थ

सम्पादकीय कार्यालय :
सम्पादक, बहुवचन
प्रतिकुलपति कार्यालय,
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
पोस्ट मानस मंदिर, गांधी हिल्स, वर्धा- 442001 (महाराष्ट्र) भारत

© सम्बन्धित लेखकों एवं रचनाकारों द्वारा सुरक्षित

प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
या सम्पादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है।

बिक्री और प्रसार कार्यालय :
प्रकाशन विभाग,
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
पोस्ट मानस मंदिर, गांधी हिल्स, वर्धा- 442001 (महाराष्ट्र) भारत
फोनः 07152-230901, फैक्सः 091-7152-230903 तारः हिन्दीविश्व

वार्षिक सदस्यता के लिए बैंक ड्राफ्ट **महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा** के नाम से इस पते पर भेजें —
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पोस्ट मानस मंदिर, गांधी हिल्स, वर्धा- 442001 (महाराष्ट्र) भारत

पंजीयन सं. : DELHIN/2000/1228

यह अंक : 50 रुपये, वार्षिक शुल्क 200 रुपये
विदेश में :
हवाई डाक : एक प्रति 15 अमेरिकी डॉलर/7 ब्रिटिश पाउंड
समुद्री डाक : एक प्रति 8 डॉलर/5 ब्रिटिश पाउंड

BAHUVACHAN
A QUARTERLY INTERNATIONAL JOURNAL IN HINDI
Published by Mahatma Gandhi International Hindi University
Post : Manas Mandir, Gandhi Hills, WARDHA-442001 (Maharashtra) India.

मुद्रक : रुचिका प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-110032 (फोन : 011-22821174, 9212796256)

अनुक्रम

सम्पादकीय / 5

उग्र वामपंथ के मुद्दे

मध्यभारत के जनजातीय क्षेत्रों में अलगाववाद एवं उग्र वामपंथ–
चेतावनी, संकेत, हिंसा और समाधान / 8
नदीम हसनैन

माओवाद के हौए का खतरा / 15
संदीप पाण्डेय

मध्य भारत में वामपंथी उग्रवाद के मुद्दे/ 17
वासंती रमण

भारत की मौजूदा परिस्थितियों में माओवाद पूरी तरह अप्रासंगिक/ 23
रमेश दीक्षित

जनजाति क्षेत्र, वामपंथी उग्रवाद और परिवर्तन / 33
शीतला सिंह

रचना

कविता

विजेंद्र / 38
ज्ञानेंद्र पति / 41
अरुण कमल / 45
बद्रीनारायण / 48

कहानी

तीन मुलाकातें / 51
नमिता सिंह

शताब्दी स्मरण

सहयात्री / 60
नीलाभ

मधुर गायन के लोक सर्जक / 67
गंगाप्रसाद विमल

आलेख

स्त्रीत्व की भाषा और तरेड़ खाई केतलीः कृष्णा सोबती के बहाने / 73
मृदुला गर्ग

गांधी और नेहरूः भारतीय सर्वधर्मसमभावी राष्ट्रवाद की साझी विरासत / 77
दीपक मलिक

डायरी

हैदराबाद का रोजनामचा / 83
से. रा. यात्री

रंगमंच

कौन है इस सूत्र का धारक..?? लेखक या निर्देशक..?? / 94
रवि चतुर्वेदी

यात्रावृत्त

सुन्दरता काल का अतिक्रमण करती है / 103
गोविंद मिश्र

साक्षात्कार

इशरत अली सिद्दीकी से बातचीत / 109
शकील सिद्दीकी

भाषांतर

विरोध और मिलन / 120
अम्लान दत्त

लेखकों के पते/127 लेखकों से अनुरोध/128

सम्पादकीय

वर्धा से संपादित 'बहुवचन' के संयुक्तांक (२६-२७) का हिन्दी के प्रबुद्ध पाठकों ने जिस तरह स्वागत किया और उसपर अपनी प्रतिक्रियाओं से हमें अवगत कराया,उससे हमारा उत्साह बढ़ा है। पत्रिका का संपादक मंडल उनके प्रति आभार प्रकट करता है।

साहित्येतर विषयों से संबंधित पत्रिकाएँ हिंदी में अधिक नहीं हैं। 'बहुवचन' को समाज विज्ञान केंद्रित पत्रिका के रूप में परिवर्तित करने की हमारी इच्छा है। इसलिए 'बहुवचन' के हर अंक में कोई न कोई मुख्य विषयक स्तंभ रहेगा। इस अंक में उग्र वामपंथ के मुद्दों पर केंद्रित पांच आलेख दिये गए हैं जो सभी वर्गों के पाठकों के विचार-मंथन के लिए उपयोगी लगेंगे। यह सिर्फ अकादमिक मंच का ही विषय नहीं हैं। भारत के संदर्भ में यह एक ऐसा विषय है जिस पर खुली बहस की जरूरत है। महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय ने जब इस विषय पर चर्चा रखी तो विशेषज्ञों ने इस मुद्दे के सभी पक्षों को ध्यान में रखते हुए एक मसौदा तैयार किया था। उसको 'वर्धा घोषणा-पत्र' के रूप में दुबारा बहस के लिए रखा गया था। उसमें मुख्य रूप से ये विचार थे-

१. देश के विभिन्न भागों विशेषकर जनजातिबहुल इलाकों में जनजातीय संस्कृति विकास की मौजूदा अवधारणाओं के कारण संकटग्रस्त है। विभिन्न जनजातीय समूह, भारतीय राज्य की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक नीतियों के कारण स्वयं को उपेक्षित और उत्पीड़ित महसूस करते हैं। राज्य के द्वारा जनजातीय क्षेत्रों के प्राकृतिक संसाधनों का दोहन औद्योगिक कारपोरेट घरानों के हित में किए जाने के कारण भी इन क्षेत्रों की जनता, भारतीय राज्य से अपने को अलग-थलग मानने लगी है। जल, जंगल और जमीन पर स्थानीय आदिवासी समूहों के स्वामित्व को राज्य द्वारा औपचारिक स्वीकृति प्रदान करने और नीति निर्माण की प्रक्रियाओं में स्थानीय जनता की भागीदारी सुनिश्चित करने से ही राज्य और जनसामान्य के बीच का अलगाव खत्म किया जा सकता है।

२. जनजातियों समेत समाज के विभिन्न तबके पूंजीवादी विकास की मुख्यधारा से निरंतर बाहर छूटते जा रहे हैं और समाज के पिछड़े और संपन्न तबकों के बीच की दूरी लगातार बढ़ती जा रही है। राज्य की नव उदारवादी नीतियों का लाभ केवल उच्च मध्य वर्ग तक ही सिमट कर रह गया है। हाशिये के समूहों के द्वारा न्याय और बराबरी के आधार पर राष्ट्रीय संसाधनों में अपनी भागीदारी की सर्वथा विवेक सम्मत मांगों के प्रति राज्य का रवैया असहिष्णु और लगभग दमनात्मक होता गया है, ऐसा विश्वास इन समूहों में हाल के दिनों में गहराई से पैठ बना रहा है।

३. 'वर्धा संवाद' राज्य और जनजातीय समूहों के बीच बढ़ते अविश्वास और अलगाव को भारतीय लोकतंत्र के लिए एक बड़ी चुनौती मानते हुए राज्य और जनजातीय समूहों के बीच विभिन्न नागरिक संगठनों के माध्यम से तत्काल संवाद शुरू किए जाने की जरूरत को रेखांकित करता है। इस संवाद का मानना है कि इस तरह का कोई भी संवाद शुरू करने की पहल राज्य की ओर से होनी चाहिए। राज्य द्वारा चलाए जा रहे आपरेशन ग्रीन हंट पर तत्काल रोक लगाई जाए। साथ ही हथियारबंद संगठनों को भी अपनी हिंसात्मक गतिविधियां तत्काल बंद कर देनी चाहिए।

४. 'वर्धा संवाद' में इस बात पर चिंता व्यक्त की गई कि जनजातीय संस्कृतियां देश के लोकतांत्रिक ढांचे के भीतर भी स्वयं को आहत और उपेक्षित महसूस करती हैं क्योंकि उन्हें अपने भौतिक परिवेश और पर्यावरण से विस्थापित करने की नीतियों ने उन्हें विकास के वैकल्पिक रूपों के बारे में सोचने और संगठित होकर राज्य की मौजूदा नीतियों का विरोध करने के लिए बाध्य कर दिया है। अतः

जनजातीय क्षेत्रों की विशिष्टता को बरकरार रखते हुए उनके पारंपरिक अधिकारों की सुरक्षा की गारंटी दी जाए।

५. 'वर्धा संवाद' की आम सहमति है कि लोकतांत्रिक व्यवस्था में असहमति और प्रतिरोध के लिए पर्याप्त जगह बनी रहनी चाहिए और राज्य को असहमति के स्वरों के प्रति असहिष्णुता का रवैया नहीं अपनाना चाहिए। इसके साथ ही विभिन्न जनसमूहों को राज्य की नीतियों और कार्यक्रमों से अपनी असहमति और विरोध, शांतिपूर्ण तरीकों से ही व्यक्त करने चाहिए। किसी भी तरह की हिंसा सही और न्यायोचित जनआंदोलन को भटकाव के रास्ते पर डाल देती है। समूहों की हिंसा, राज्य की दमनात्मक संस्थाओं द्वारा की जा रही हिंसा को प्रायः वैध ठहराने का बहाना बन जाती है और कई बार राज्य की एजेंसी द्वारा की गई हिंसा समूहों को प्रतिहिंसा करने का अवसर प्रदान कर देती है।

६. देश के सभी हिस्सों विशेषकर जनजातीय इलाकों में वन अधिकार कानूनों तथा भूमि कानूनों में समुचित संशोधन कर स्थानीय लोगों को जंगलों तथा अन्य खनिज पदार्थों पर पूर्ण स्वामित्व प्रदान किया जाए और स्थानीय जनता की सहमति से ही उन इलाकों में विकास की किसी भी योजना को लागू किया जाए। यदि वहाँ स्थानीय जनता की सहमति से कभी विकास के वैकल्पिक मॉडल के अनुरूप कोई परियोजना लगाई जाती है तो उसमें स्थानीय आबादी को बराबरी के आधार पर परियोजना के स्वामित्व में भागीदारी प्रदान की जाए। आवश्यकता इस बात की है कि इन इलाकों में विकास के संभावित मॉडलों पर स्थानीय आबादी के प्रतिनिधियों से नए सिरे से बातचीत की जाए और स्थाई और टिकाऊ विकास की परियोजनाएँ प्रारंभ की जाएं। इस प्रक्रिया में नीति-निर्माण की प्रक्रिया का पूरी तरह विकेंद्रीकरण किया जाना चाहिए ताकि निर्णय के हर स्तर पर जनता की भागीदारी बनी रहे।

७. 'वर्धा संवाद' में माना गया कि विकास की प्रक्रिया में जनजातीय इलाकों में उनके जीवन-यापन के संसाधनों का गंभीर क्षरण हुआ है। इन इलाकों के आदिवासी समुदाय विकास की प्रक्रिया के शिकार हुए हैं। अतः उनके जीवन-संसाधनों की सुरक्षा सुनिश्चित की जाए।

८. देश के विभिन्न हिस्सों में स्वाधीनता आंदोलन और भारतीय संविधान में उल्लिखित मूल्यों के खिलाफ बनाए गए और लागू किए जाने वाले कानूनों की पुनर्समीक्षा की जाए और संविधान के नीति-निर्देशक तत्वों में शामिल किए गए लक्ष्यों को तत्काल अमल में लाया जाए और संविधान की प्रस्तावना तथा संविधान में वर्णित मौलिक अधिकारों, मानवाधिकारों और नागरिक अधिकारों की रक्षा की गारंटी सुनिश्चित की जाए।

९. जनजातीय क्षेत्रों में जनजातीय कलाओं और उनकी देशज सांस्कृतिक धरोहर, कृषि संबंधी जानकारी, औषधि संबंधी ज्ञान तथा देशज हुनर को बढ़ावा दिया जाए और उनकी बौद्धिक संपदा का समुचित दस्तावेजीकरण किया जाए।

उग्र वामपंथ पर दिये गये आलेखों में भी इन विचारों का प्रतिफलन मिल सकता है।

'बहुवचन' के इस अंक में उपरोक्त विषय के अलावा विविध विषयों की सामग्री भी हम दे रहे हैं जिससे इसकी पठनीयता और ज्यादा विस्तृत हो।

'बहुवचन' एक ऐसी पत्रिका है जो व्यापक पाठक समाज को केंद्र में रखती है। इस उम्मीद के साथ हम यह अंक पाठक समाज को समर्पित कर रहे हैं कि वर्ष २०११ के आगामी अंकों में भी कई समाजोन्मुखी विषय पत्रिका में हम शामिल कर पाएँगे।

ए. अरविंदाक्षन

उग्र वामपंथ के मुद्दे

मध्यभारत के जनजातीय क्षेत्रों में अलगाववाद एवं उग्र वामपंथ
चेतावनी संकेत, हिंसा और समाधान

नदीम हसनैन

राष्ट्र-राज्य के रूप भारत की आजादी के पश्चात् श्रीकाकुलम, आंध्रप्रदेश से उत्तरप्रदेश के सोनभद्र जिले तक, खासकर मध्य भारत के जनजाति क्षेत्रों में फैला तथाकथित माओवादी/नक्सली आंदोलन एक अत्यंत ही गंभीर समस्या के रूप में उभर कर सामने आया है। सरकारी एवं गैर-सरकारी संगठनों, जनसंचार माध्यमों, बहस एवं विमर्शों के माध्यम से दो प्रकार की धारणाएं सामने आती हैं :

१. यह समस्या आंतरिक सुरक्षा के लिए ख़तरा है जिसके नतीजे राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए चुनौतियाँ पैदा कर रहे हैं। जो लोग इस धारणा के चश्मे से इस समस्या को देख रहे हैं, उनकी सोच सुरक्षा व कानून व्यस्था पर केंद्रित होगी।

२. दूसरी धारणा यह है कि यह समस्या विशुद्ध रूप से एक सामाजिक-आर्थिक समस्या है जिसके मूल में अलगाव, भेदभाव और हाशियाकरण है। इस धारणा से जुड़े लोगों के लिए यह सामाजिक न्याय हेतु एक सामाजिक आंदोलन है। इसके अतिरिक्त यह सिर्फ एक समस्या ही नहीं अनेक समस्याओं का परिणाम है। यह कोई अचानक उठ खड़ा होने वाला तूफ़ान न होकर अपनी मौलिकता और जड़ों के साथ औपनिवेशिक काल में भी देखा जा सकता है, जहां कि कई सारे विद्रोहों को आदिवासी समाज अपने दमन एवं शोषण के खिलाफ अंजाम देता आया है। समस्या की गंभीरता का अंदाज़ा इस आलोक में लगाया जा सकता है कि इस आतंक के दायरे में आज भारत के लगभग दो सौ जिले और पंद्रह राज्य आते हैं। देश के भौगोलिक क्षेत्रफल के ३५-४० प्रतिशत भाग पर इस समस्या का प्रभाव फैला हुआ है। इनमें सर्वाधिक प्रभावित क्षेत्रों में दक्षिणी उड़ीसा, दक्षिणी एवं मध्यवर्ती छत्तीसगढ़, दक्षिणी बिहार, पूर्वी आंध्रप्रदेश, पूर्वी महाराष्ट्र से दक्षिणी उत्तरप्रदेश आदि हैं । देश की कुल आबादी का ८ प्रतिशत जनजाति जनसंख्या है, और इसमें से लगभग ५० प्रतिशत जनजाति जनसंख्या कुल मिलाकर बिहार, झारखंड, मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़ और आंध्रप्रदेश में निवास करती है। इसका अर्थ यह है कि देश का मध्य भाग

जनजाति जनसंख्या का विस्तृत क्षेत्र है। ध्यातव्य है कि जिन हिस्सों में जनजाति समाज फैले हैं उन क्षेत्रों में गरीबी, अत्यंत अल्प विकास और आर्थिक रूप से काफी पिछड़ेपन के कारण अत्यंत कष्टसाध्य जीवन उन्हें जीना पड़ता है। ध्यान देने वाली बात यह है कि इन्हीं क्षेत्रों में चरम वाम अतिवादिता और हिंसा सबसे अधिक देखने को मिलती है ।

यद्यपि जनजातियों की समस्या का स्वरूप हर राज्य में थोड़ा भिन्न होने के बावजूद इनमें से कुछ समस्यायें जैसे जमीन का हस्तांतरण, लंबी कर्जदारी, खाद्य-सुरक्षा, स्वास्थ्य, शिक्षा और विस्थापन आदि लगभग समान रूप से हर राज्य में एक जैसे हैं। कोई इससे इनकार नहीं कर सकता कि आज भी बस्तर जैसे इलाकों में पीने योग्य सुरक्षित पानी मानवीय प्रयोग हेतु उपलब्ध नहीं है। वहां स्कूल नहीं है। यदि स्कूल हैं तो शिक्षक नहीं हैं। अस्पताल नहीं हैं और अगर हैं भी तो डॉक्टर एवं दवाइयों का घोर अभाव है। इन समस्याओं से राज्य के जनप्रतिनिधियों का शायद ही कोई सरोकार हो। लाखों की संख्या में शिक्षित जनजाति युवक, युवतियां बेरोजगार हैं। वे नजदीकी शहरों में जाते हैं और कुंठित होकर लौटते हैं। कृषि की स्थिति इस कदर बुरी है कि इसे उत्पादक और रोजगारपरक नहीं कहा जा सकता है । उनकी आजीविका क्षतिग्रस्त है। इन परिस्थितियों में हथियारबंद माओवादी जब अपनी सहानुभूति इनकी समस्याओं के प्रति जताते हैं, स्वाभाविक रूप से आदिवासी युवा वर्ग इनके प्रभाव में आ जाते हैं। जब माओवादियों के द्वारा सरकारी एजेंसियों के खाद्य-भंडारों को लूटा जाता है तथा वे इसे भूख से बिलबिलाते आदिवासियों के बीच वितरित करते हैं तो वे उनके नायक बन जाते हैं। जब माओवादियों के द्वारा भूमि का वितरण किया जाता तब आदिवासी वर्ग इन्हें अपना भगवान मानने लगता है ।

उपरोक्त सभी समस्याओं में वर्तमान में विस्थापन सबसे गंभीर समस्या है। विडंबना यह है कि ज्यादातर जनजाति क्षेत्र जल, जंगल और खनिज संसाधनों के मामले में समृद्ध हैं। स्वतंत्रता के उपरांत बड़ी संख्या में विकास परियोजनाओं की वजह से बड़ी संख्या में विस्थापन हुआ। पनबिजली व सिंचाई-परियोजनाओं आदि के कारण बड़े पैमाने पर विस्थापन होता है। विस्थापन के अन्य कारणों में खादान, सुपरथर्मल व नाभिकीय बिजली प्लांट, औद्योगिक एवं सामरिक फौजी स्थलों का निर्माण, संरक्षित वन क्षेत्रों का फैलाव, अभ्यारण्य-पार्क और प्रौद्योगकीय हस्तक्षेप आदि से बड़े पैमाने पर परंपरागत मछुआरों और हथकरघा से जुड़े लोगों का विस्थापन होता है। निःसंदेह ऐतिहासिक रूप से प्राकृतिक संसाधनों पर आधारित जनजाति समुदायों का विकास के नाम पर जनजीवन प्रभावित हो रहा है, जिसका सबसे वीभत्स रूप विस्थापन है। ध्यान देने वाली बात यह है कि देश की कुल आबादी का ८ प्रतिशत बामुश्किल जनजाति समुदाय है, लेकिन विस्थापितों में इनका प्रतिशत ५० है। इस प्रकार के विषमतापूर्ण प्रभावों के कारण, जिसके पीछे हमारी विकास नीतियां हैं, निश्चित रूप से विस्थापन को बढ़ावा मिलता है। पुनर्वास की स्थिति क्या है यह एक विचारणीय बिन्दु है। योजना आयोग के दस्तावेजों के आलोक में देखा जाय तो विस्थापितों की कुल संख्या के लगभग २० प्रतिशत लोगों को ही पुनर्वासित किया जा सका है । साथ ही इन विस्थापितों की आजीविका का क्या होगा? क्या यह सत्य नहीं कि यह लोग विकास का 'शिकार' हो चुके हैं। विस्थापन के अनार्थिक परिणामों में प्रमुख हैं- उनकी नातेदारी व्यवस्था का छिन्न-भिन्न होना, उनकी परस्पर समर्थन व्यवस्था का विघटन, पवित्र स्थलों को ढा दिया जाना आदि। दुर्भाग्यपूर्ण है कि इन बदनसीबों को 'प्रगति' में हिस्सेदारी नहीं दी गयी। अतीत में भी इनका औपनिवेशिक शोषण किया गया था। लगभग दो सौ वर्षों से भू-माफिया, महाजनों, जंगल और शराब के ठेकेदारों के द्वारा सरकारी तंत्रों की आड़ में इनका शोषण होता चला आ रहा है और आजादी के बाद विकास के नाम पर इन्हें एक बार फिर से बलि का बकरा बनाया जा रहा है । यही कारण है कि बहुत से जनजाति प्रतिनिधियों के द्वारा यह

असुविधाजनक प्रश्न उठाया जाता है कि ''क्या हम भारत के आंतरिक उपनिवेश है'' ?

संविधान निर्माताओं ने जनजातियों के हितों की रक्षा हेतु अनेक प्रावधान किये हैं। लगभग सभी राज्य सरकारों ने संविधान के इन प्रावधानों को वैधानिक उपायों के साथ लागू किया है, जैसे कि 'प्रीवेंशन आफ लैंड एलियनेशन ऐक्ट', 'रेगुलेशन आफ मनी लैंडिंग एक्ट' आदि। इसके अतिरिक्त संविधान की पाँचवी व छठी अनुसूची में अनेकों प्रावधानों के द्वारा जनजाति क्षेत्रों के प्रशासन, उनकी भाषा और संस्कृति की रक्षा हेतु प्रावधान किये गये हैं। लेकिन फिर भी उनका दमन और शोषण, उनके हितों को असुरक्षित रखना जारी है, क्योंकि राज्य को जिस दमन और शोषण के विभिन्न प्रकारों से इन्हें सुरक्षा प्रदान करना था, सामाजिक-अन्याय से मुक्ति प्रदान करना था, उनमें राजनैतिक इच्छाशक्ति का घोर अभाव रहा है ।

कहा जाता है कि लोकगीत कभी झूठ नहीं कहते क्योंकि उनमें जबरदस्त भावनात्मक आवेग स्वभाविक रूप से छलकते हैं । झारखंड क्षेत्र के दो मशहूर गीत :

> ''उन्होंने हमसे अनेकों वादे किये, उससे भी ज्यादा कि जितने मुझे याद हैं लेकिन उन्होंने सिर्फ एक वादा निभाया . उनका वादा था कि जमीन ले लेंगे और उन्होंने ले लिया''

> ''जब वे (डीकू/बाहरी लोग) हमारी जमीनों पर आये तब वे इतने दुबले-पतले थे जैसे कि किसी सुई का नाका। हमारा खून पी पी कर वे इतने मोटे हो गये हैं जैसे कि हल का मुठ्ठा''

इस प्रकार के गीत अनेकों प्रकार के अन्याय और शोषण को स्वर देते हैं । यह एक प्रकार से समूची जनसंख्या की 'वैधानिक बेदख़ली' का शास्त्रीय उदाहरण है ।

दो

योजना आयोग के विशेषज्ञों ने २००६ में 'चैलेंजेज आफ डेवलपमेंट इन माओइस्ट अफेक्टेड ट्राइबल एरियाज़' नामक रिपोर्ट प्रकाशित की। पिछले पच्चीस वर्षों में केन्द्र सरकार के द्वारा पहली बार इस प्रकार की रिपोर्ट प्रकाशित की गई है। इसमें पहली बार सुरक्षा केन्द्रित उपागम की जगह एक खुले उपागम को अपनाया गया। रिपोर्ट का तर्क था कि भूमि संबंधित मामले माओवाद के फैलाव में एक जरूरी भूमिका निभाते हैं। इसमें विशेषज्ञ समिति ने सुझाया कि हजारों बीघे जमीन जो यूं ही खाली पड़ी है, को भूमिहीनों में वितरित किया जाना चाहिए। यह सुझाव दिया गया कि 'दि शिड्यल्ड ट्राइब्स एण्ड ट्रेडिशनल फॉरेस्ट ड्वेलर्स (रेकॉगनिसन ऑफ फॉरेस्ट राइट्स) एक्ट २००६' को लागू किया जाना चाहिए ताकि लोगों के जमीन संबंधी सुरक्षा उपायों को मजबूत किया जा सके। यह स्वीकार किया गया कि योजनाओं की कमी के कारण ही उग्र वामपंथ का विस्तार हुआ, ''लगातार अलगाव के कारण लोग बंदूक उठाने के लिए बाध्य हुए। इसे इस रूप में समझा जाए कि यह एक कानून व्यवस्था की समस्या नहीं है बल्कि इसकी जड़ें आर्थिक और सामाजिक आधारों में निहित हैं।'' इस रिपोर्ट में अतिवादिता के लिए शासन व्यवस्था, जमीन से अलगाव, बेरोजगारी और सामाजिक असमानता आदि को दोषी ठहराया गया है। इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि जनजातियों की अर्थव्यवस्था जंगल-अर्थव्यवस्था पर टिकी है और वन्य अर्थव्यवस्था आदिवासियों पर। स्थिति तब और बिगड़

जाती है जब राज्य की निर्मम, दमनकारी शक्ति का इस्तेमाल उनकी आवाज़ को कुचलने में होता है। खास कर जब लोकतांत्रिक सिद्धांतों की अनदेखी की जाती है। वन विभाग को हथियारबंद पुलिस मुहैया करायी जाती है जो कि जंगल में लगभग पेशेवर सेना के रूप में अपना नियम-कानून चलाती है। इनमें मनमाने ढंग से सजा देना, बिना मूल्य खाद्य-वस्तुओं की निकासी आदि (अंडे, मुर्गे, बकरे, दूध, जंगली उत्पादन आदि), बिना मूल्य श्रम, जोर-जबरदस्ती से पैसे की उगाही, इससे भी बुरा यह कि घरों में लूटपाट, छीना-झपटी और आधिपत्य हेतु बलात्कार सामान्यतः होते ही रहते हैं। यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि वन क्षेत्रों में सामान्य क़ानून नहीं चलते।

भूमि अधिग्रहण एक्ट का गलत इस्तेमाल इस दुःखद स्थिति को और भी दारुण बना देने वाले कारकों में से एक है। यह ठीक उस स्थिति की याद दिलाता है जब औपनिवेशिक भारत में साम्राज्यवादी शक्तियाँ सेवा और सार्वजनिक हितों की आड़ में किसी की भी संपत्ति का अधिग्रहण कर लेती थीं। जबकि सत्य यह था कि सिर्फ औपनिवेशिक हितों की पूर्ति हेतु इस प्रकार से संपत्तियों का अधिग्रहण किया जाता था। ठीक उसी प्रकार की राजनीति आज के आजाद भारत में भी मौजूद है जहाँ सरकार को यह शक्ति प्राप्त है, कि वह किसी सामान्य आदमी की संपत्ति का अधिग्रहण 'राष्ट्रीय हित' में कर सकती है। इस तथाकथित 'सार्वजनिक हितों और 'राष्ट्रीय हित' के दायरे में ये जनजाति समुदाय कहां रखे जा सकते हैं? क्या वे 'जनहित' और 'राष्ट्रहित' के हिस्से नहीं हैं? कौन उनके हितों की रक्षा करेगा? क्या हम उनके साथ दुश्मनों जैसा व्यवहार नहीं कर रहे है ?

जनजाति क्षेत्रों में मल्टीनेशनल कॉरपोरेशनों को राष्ट्रीय संसाधनों के खनन का अधिकार दे दिया गया है। जैसा कि गौतम नवलखा (२००६) ने कहा था केन्द्र सरकार जब यह कहती है कि माओवादी जनजातीय क्षेत्रों में विकास का विरोध कर रहे हैं तो इसका मतलब यह है कि वस्तुतः माओवादी, आदिवासी क्षेत्रों में कॉरपोरेट शोषण, जो कि खनिज पदार्थों, जंगल और भूमि-संसाधनों के दोहन पर आधारित हैं, को रोकने का प्रयास करते हैं। बहुराष्ट्रीय निगम आम तौर पर पूँजी आधारित निवेश करते हैं जिसमें रोज़गार के अवसर कम होते हैं जिसके कारण कुशल श्रमिक को बाहर से आयातित करने के साथ ही साथ अकुशल श्रमिक के नाम पर स्थानीय श्रम का उपयोग अत्यंत कम मूल्य पर करने की कोशिश की जाती है। उदाहरण के तौर पर 'दी नेशनल मिनरल डेवलपमेंट्स कॉरपोरेशन' की किरान्डूल और बचेली की खदानें जो कि मध्यप्रदेश के दांतेवाड़ा जिले में हैं, स्थानीय लोगों को रोजगार नहीं देती है। यहाँ से प्राप्त लौह अयस्कों को एक विशिष्ट रेल मार्ग से विशाखापत्तनम और अत्यंत अल्प मूल्य पर जापान को बेचा जाता है। यह तथाकथित 'रेड कॉरिडोर' (उग्र-वामपंथ से प्रभावित क्षेत्र) जहाँ सदियों से अदिवासी निवास करते हैं, खनिजों से भरा पड़ा है। इन संरक्षित भंडारों पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की निगाहें हैं, सरकार इसे बेचने पर आमादा है। इसी कारण सैकड़ों की संख्या में 'मेमोरेंडम ऑफ अंडरस्टैंडिंग' इन बहुराष्ट्रीय कंपनियों के साथ हस्ताक्षरित किये जा चुके हैं। यही कारण है कि इन क्षेत्रों की जनजाति जनसंख्या खुद को छला हुआ महसूस कर रही है, नज़रअंदाज, और उपयोग कर फेंकी गई वस्तु जैसा- कभी विकास के नाम पर, कभी औद्यौगिकीकरण के नाम पर, कभी राष्ट्रहित में वस्तुतः उनका प्रतिरोध इस अन्यायपूर्ण विस्थापन के विरोध में है। वे इस बात को मानते हैं कि माओवादी विद्रोह को कुचलने के नाम पर सरकार जमीन अधिग्रहण कर इसे बहुराष्ट्रीय कंपनियों को देना चाहती है। न्याय की माँग यह है कि भूमि अधिग्रहण एक्ट को राष्ट्रीय सुरक्षा और जन-कल्याण की सीमा में लाया जाय न कि इसका उपयोग कम्पनी, उद्योगों और रजिस्ट्रर्ड फर्म को देने हेतु किया जाय। इस एक्ट में सुधार की जरूरत हैं ताकि विस्थापन को लगाम दिया जा सके और विस्थापित के अधिकारों को सुरक्षित किया जा सके।

तीन

मार्च १३, २००६ को संसद में गृहमंत्री के द्वारा एक 'स्टेटस पेपर' लाया गया जो कि उग्र वामपंथ की समस्या पर केंद्रित था। इस पत्र में उन खतरों से तथा उनसे निपटने की कुछ बिंदुवार नीतियां निम्नलिखित हैं:

१. हिंसा में लिप्त नक्सलियों से सरकार को कड़ाई से निपटना होगा।
२. नक्सलवाद अब एक अंतरराज्यीय समस्या है अतः राज्यों को चाहिए कि वे सामूहिक प्रयासों से इसका सामना करें।
३. राज्य सरकारों को प्रभावकारी पुलिस प्रतिक्रिया और असरदार एवं निरंतर पुलिसिया कारवाई सामूहिक एवं व्यक्तिगत स्तर पर नक्सलियों एवं उनके आधारभूत संरचनाओं के खिलाफ करनी चाहिए।
४. प्रभावित राज्यों में जब तक नक्सली संगठन हिंसा और हथियार न त्याग दें तब तक किसी भी प्रकार की शांतिपूर्ण बातचीत बंद कर देनी चाहिए।
५. स्थानीय नागरिक संगठनों को नक्सलियों के खिलाफ कार्य करने के प्रयासों को बढ़ाना चाहिए लेकिन इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए की स्थानीय नागरिकों को पर्याप्त सुरक्षा दी जाए एवं प्रभावकारी ढँग से उन इलाकों में सुरक्षित दस्तों को प्रभुत्व कायम करना चाहिए।
६. इस बात का ध्यान रखते हुए कि नक्सलवाद मात्र एक कानून-व्यवस्था संबंधी अड़चन नहीं है, सरकार की नीति यह होनी चाहिए कि दूसरे खतरे के साथ राजनैतिक सुरक्षा, विकास और जनधारणा के साथ समग्रता में देखे।
७. राजनैतिक संगठनों को नक्सल प्रभावितों क्षेत्रों में अपने कैडर को बढ़ाना चाहिए ताकि संभावित युवाओं को नक्सलवाद के मार्ग पर चलने से बचाया जा सके।
८. राज्य सरकारों को अपनी वार्षिक योजनाओं में तालमेल के आलोक में सहमति बनाकर इन क्षेत्रों के विकास को सुनिश्चित करना चाहिए। भूमि-विहीनों में भूमि वितरण को केंद्र बिन्दु बनाकर, त्वरित रूप से भूमि-सुधार कार्यक्रम को लागू करना चाहिए। भौतिक रूप से बुनियादी संरचना जैसे सड़कों, संचार साधनों, बिजली आदि को बहाल करना चाहिए। साथ ही इन क्षेत्रों के बेरोजगार युवकों को रोजगार के अवसर उपलब्ध कराना चाहिए।

उपरोक्त एजेंडे के आलोक में सरकार मुख्य रूप से पुलिस व्यवस्था का आधुनिकीकरण, लैंड-माईन्स से अभेद्य वाहन, लंबी अवधि तक के लिए केंद्रीय अर्धसैनिक बलों की तैनाती और केंद्रीय अर्धसैनिक बलों में नियुक्तियों को अंजाम देने पर बल दे रही है। वहीं जंगलों और जनजातियों से जुड़े मुद्दे, भूमि-सुधार और रोजगार के अवसरों की वृद्धि जैसे विषयों पर बातचीत तो होती है लेकिन इसे गंभीरतापूर्वक नहीं लिया गया। क्या हम आशा कर सकते हैं कि इन उपेक्षित मुद्दों को तत्काल संज्ञान में लिया जायेगा?

स्थानीय नागरिकों को वाम उग्रवादियों के खिलाफ खड़ा करने के विचार से 'सलवा जुडुम' के रूप में प्रशिक्षित एवं हथियार से लैस किया गया। यह लगभग गृहयुद्ध की स्थिति के निर्माण जैसा है। इस प्रकार के संगठनों को अहिंसा एवं शांति के समर्थकों द्वारा विरोध का सामना करना पड़ा। इन

लोगों ने इसे रद्द करने की माँग उठायी और इस प्रकार की राजनीति को अमान्य करार दिया। इस कार्य को अमानवीय और घिनौना कृत्य भी करार दिया गया। इस कार्य का यथार्थ यह था कि राज्यों ने अपने को जिम्मेदारी से मुक्त कर लिया। इससे बेहतर विकल्प यह होता कि ऐसे सिविल सोसाइटी समूहों को, जो जनजातीय समस्याओं से अवगत हैं तथा उनसे सहानुभूति रखते हैं, प्रशासन के साथ लगाया जाता, विशेषकर जनजातीय समस्याओं को हल करने के कानूनों को लागू करने में।

नागरिक समाज की प्रतिक्रिया के रूप में बी.डी.शर्मा के द्वारा १७, मई २०१० को भारत के राष्ट्रपति को लिखे गये पत्र को गंभीरता से विचार करने हेतु लिया जा सकता है। इस पत्र के अन्य बिन्दुओं के अलावा भारत के पूर्व राष्ट्रपति के.आर.नारायणन को उद्धृत करते हैं कि ''आने वाली पीढ़ियाँ कहीं यह न कहें कि भारतीय गणराज्य की नींव हरित पृथ्वी और निर्दोष जनजातियों, जो कि सदियों से यहाँ के वासी थे, की लाश पर रखी गई है।" बी.डी. शर्मा आगे कहते हैं कि

१. आदिवासी पृथ्वी पर सर्वाधिक लोकतांत्रिक लोग हैं। संविधान निर्माताओं ने आदिवासियों को मज़बूत सुरक्षा कवच प्रदान किया था अर्थात पाँचवी अनुसूची जिसे संविधान के भीतर एक और संविधान कहा जा सकता है। अस्तु संविधान स्वीकार करने के साथ ही वस्तुतः इन जनजातियों पर आपराधिक होने का ठप्पा लगा दिया गया है। समाज में इनके लिए कोई स्थान नहीं है, न हीं इनकी परंपराओं और रिवाजों के लिए ही। राज्यपाल अपनी असीम शक्ति संपन्नता के आधार पर बहुत कुछ कर सकते थे। लगता है कि आज तक वे इससे अनजान हैं एवं जनजाति समुदायों को उनकी इस प्रकार की चूक से गंभीर परिणामों का सामना करना पड़ रहा है।

२. केन्द्र को सार्वजनिक रूप से यह बताना चाहिए कि वे जनजाति समुदायों के प्रति उत्तरदायी हैं।

३. ''अब शांति'' के प्रस्तावों के तुरंत शुरू कर दिया जाना चाहिए।

४. राज्य के द्वारा किये गये तमाम वायदों को ईमानदारी से एक वर्ष के अंदर निभाया जाये।

५. एक व्यापक निदान पर कार्य करते हुए जारी हिंसा और अराजकता को समाप्त किया जाना चाहिए।

आदिवासी क्षेत्रों व उनकी समस्याओं पर गहरी नजर रखने वालों का मानना है कि शांति एवं न्याय बहाल करने हेतु निम्नलिखित उपायों को तत्काल प्रभाव से लागू किया जाना चाहिए।

१. जनजाति क्षेत्रों के भूमि-आलेखों को व्यवस्थित ढँग से रखा जाना चाहिए।ताकि प्रभावित जनजातियों को मुकदमेबाज़ी की प्रक्रिया से बचाया जा सके।

२. बेनामी भूमि-स्वामियों का सफाया किया जाना चाहिए।

३. अतिरिक्त और मुक्त-जमीनों को जनजातियों को आर्थिक मदद के साथ प्रदान करना चाहिए ताकि वे उत्पादक कृषि को फिर से जीवंत कर सके। इस कार्य में बंजर भूमि सुधार बोर्ड के उचित उपयोग से जनजातियों की भाग-दौड़ की पीड़ा कम करने का प्रयास किया जा सकता है।

४. कठोर और औपनिवेशिक भूमि-अधिग्रहण एक्ट की समीक्षा और उसमें बदलाव किया जाना चाहिए।

५. न्यूनतम मजदूरी के भुगतान को सुनिश्चित किया जाना चाहिए।
६. 'अनुसूचित-जनजाति और अन्य जंगल रहवासी (वन अधिकार) एक्ट २००६' को पूरी ईमानदारी से लागू किया जाना चाहिए।
७. 'बंधुवा मजदूरी उन्मूलन एक्ट १९७९' को कड़ाई से लागू कर दिया जाना चाहिए।
८. आसान और अनुकूल कर्ज सुविधाओं को सुनिश्चित किया जाना चाहिए ताकि महाजनों के शोषण से जनजातियों को बचाया जा सके।
९. वन कानूनों को मानवीय ढँग से लागू कर जंगल कानून के उल्लंघन के मामूली केसों को समाप्त कर देना चाहिए। और ज्वांइंट फॉरेस्ट मैनेजमेन्ट (जे.एफ.एम.) को समुचित ढँग से लागू कर दिया जाना चाहिए।
१०. जनजाति रिवाजों व कानूनों को संहिताबद्ध कर उसका सम्मान करना चाहिए।
११. जनजातियों की भाषा को संरक्षण और बढ़ावा मिलना चाहिए।
१२. जनजातियों के देशज ज्ञान तंत्र खासकर पर्यावरण, औषधियों और जल-व्यवस्था से संबंधित को लिपिबद्ध कर बौद्धिक संपदा के तहत संरक्षित किया जाना चाहिए।
१३. राज्य को इस धारणा का परित्याग कर देना चाहिये कि जो भी आदिवासी अधिकारों का समर्थन करते हैं वे माओवादी हैं या राज्य से बग़ावत के समर्थक हैं।
१४. नागरिक अधिकारों को लागू कर उन्हें सम्मान और स्वतंत्रतापूर्वक रहने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए।

आज पूरी दुनिया में, जिसमें भारत भी शामिल है, जनजाति संस्कृति एक 'घायल संस्कृति' के रूप में है। अल्पसंख्या के कारण राष्ट्रीय राजनीति में आदिवासी आवाज़ हाशिये पर ही रहेगी। आज निर्दोष आदिवासी समुदाय माओवादियों, राज्य व सलवा जुडुम के द्वारा की जाने वाली हिंसा के दुश्चक्र में फंसे हुए हैं। इनमें से हर समूह का दावा है कि उनकी हिंसा रक्षात्मक है और हिंसा की शुरुआत उनके द्वारा नहीं की जाती है। लेकिन इनमें से कोई भी समूह अपने इस दावे का बचाव नहीं कर सकता। कुछ भी हो, हथियारबंद संघर्ष के नाम पर भी लूट, हिंसा व मारकाट का कोई औचित्य नहीं है।

सही हो या गलत उग्र वामपंथ के उभरने के पीछे कहीं न कहीं जनजाति समुदायों की आवाजों को दबाना ही कारण रहा है। यह जरूरी नहीं है कि आदिवासी मार्क्सवाद या माओवाद से प्रेरणा लेते हैं। जनजाति समुदाय अगर उनके साथ हैं तो इसका कारण यह है कि उग्र वामपंथ ने जनजातियों को लामबंद कर उन्हें राजनैतिक नेतृत्व प्रदान किया तथा वे जनजातियों के अधिकारों के लिए लड़ने की सक्षमता देते हैं। अपनी कमियों व तथाकथित 'अपराधों' के लिए उग्र वामपंथी संगठनों को दोषी क़रार दिया जा सकता है लेकिन कम से कम इस बात के लिये तो उनका सम्मान किया जाना ही चाहिये कि उन्होंने आदिवासियों को आवाज़ दी है और उन्हें शोषण व अन्याय के खिलाफ़ लड़ने का हौसला दिया है। आखिर क्यों शोषित जनजाति समुदायों को अपने जीवन में बदलाव हेतु धैर्यपूर्वक इंतजार करना चाहिए जबकि उनके चारों ओर पहले से ही समृद्ध और उन्नत लोग काफी तेज गति से और समृद्धि की ओर बढ़ रहे हैं?

माओवाद के हौए का खतरा

संदीप पाण्डेय

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा में ३०-३१ मार्च, २०११
के सम्मेलन में उग्र वामपंथ के मुद्दे पर किया गया प्रस्तुतीकरण

छत्तीसगढ़ में माओवाद का हौआ खड़ा कर सरकार ने लगभग आपात्काल जैसे हालात पैदा कर दिए हैं। वैसे भारतीय जनता पार्टी की फासीवादी सोच रखने वाली सरकार से हम उम्मीद भी क्या कर सकते थे? यहां की सरकार नागरिक अधिकारों को पूरी तरह से कुचलने में सफल रही है।

विनायक सेन पर माओवादी समर्थक का आरोप लगा कर जेल में डालने के बाद सरकार ने धीरे-धीरे नागरिक समाज के लिए ऐसा आतंकी माहौल पैदा कर दिया है कि दो-तीन संगठनों को छोड़ कर विनायक के समर्थन में खुल कर आने से लोग हिचकिचाते थे। विनायक को भी इतने लम्बे समय तक जेल में रखा गया कि बाहर निकलने के बाद वे सरकार की तानाशाही के खिलाफ कोई चुनौती प्रस्तुत नहीं कर पा रहे।

गांधीवादी कार्यकर्ता हिमांशु कुमार के बस्तर में दंतेवाड़ा से १२ कि.मी. दूर स्थित ७ एकड़ के परिसर पर बने वनवासी चेतना आश्रम को सरकार ने १७ मई, २००६, को ध्वस्त कर दिया क्योंकि हिमांशु कुमार ने सुरक्षा कर्मियों, विशेषकर पुलिस अधिकारियों एवं सरकार द्वारा आदिवासियों के खिलाफ आदिवासियों को खड़ा करने की नीति के तहत एक प्रायोजित सशस्त्र समूह सलवा जुडुम, के द्वारा की जा रही मानवाधिकार हनन की घटनाओं को उजागर कर उन पर कानूनी कार्यवाहियां प्रारम्भ कर दी थीं। साल के अंत तक सरकार ने हिमांशु कुमार के लिए ऐसी परिस्थितियां पैदा कर दी थीं कि उन्हें छत्तीसगढ़ छोड़ना पड़ा अन्यथा उन्हें आशंका थी कि वे भी विनायक की तरह जेल चले जाएँगे। हिमांशु के प्रमुख आदिवासी कार्यकर्ता कोपा कुंजाम आज भी दंतेवाड़ा जेल में हैं।

हिमांशु के समर्थन में जब मेधा पाटकर के साथ ३०-४० सामाजिक कार्यकर्ताओं का एक समूह दंतेवाड़ा पहुँचा तो ५ जनवरी, २०१० को पुलिस की उपस्थिति में सलवा जुडुम के लोगों ने उनपर टमाटर, अण्डे, पत्थर, गोबर, कीचड़ आदि फेंका।

विशेष पुलिस अधिकारियों ने इस वर्ष मार्च में दंतेवाड़ा जिले के तारमेटला, टीमापुरम व

मोरपल्ली नामक तीन गावों में माओवादी विरोधी अभियान के तहत करीब ३०० घर व साथ में अनाज, लकड़ी आदि जला दिए। तीन गाँव वाले मारे गए व तीन महिलाओं के साथ बलात्कार हुआ। जब स्वामी अग्निवेश २६ मार्च को इन गावों के लिए राहत सामग्री लेकर पहुंचे तो डोरनापाल में विशेष पुलिस अधिकारियों व सलवा जुडुम के लोगों ने स्वामी जी की पगड़ी खींच ली, धक्का-मुक्की की व अण्डे फेंके। दूसरे दिन मुख्य मंत्री रमन सिंह से बात कर जरूरी सुरक्षा का इंतजाम कर जब उन्होंने दोबारा जाने की कोशिश की तो रास्ते में पहले दिन से बड़ा जमावड़ा लगा हुआ था जिसने स्वामी अग्निवेश को पीड़ित गाँवों तक नहीं पहुंचने दिया। यह बात अजीब इसलिए है कि फरवरी माह में ही स्वामी अग्निवेश उस कार्यवाही का हिस्सा थे जिसमें माओवादियों की गिरफ्त से पांच पुलिसकर्मियों को छुड़वाया गया था जिसके बाद स्वामी जी ने रमन सिंह के साथ एक प्रेस वार्ता भी सम्बोधित की थी।

हिमांशु का आश्रम तोड़ने के बाद दंतेवाड़ा पुलिस अधीक्षक ने कहा था कि सरकार बस्तर को खाली कराना चाहती है ताकि यहाँ जैसा श्रीलंका में तमिल चीतों के साथ किया गया था उस तरह का एक माओवादियों को पूरी तरह से साफ करने का अभियान चलाया जा सके।

यह साफ है कि सरकार द्वारा ऐसी परिस्थितियां पैदा की गईं हैं कि बाहर से कोई भी सामाजिक-मानवाधिकार कार्यकर्ता बस्तर न आ सके ताकि सरकार वहां मनमानी कर सके। मीडिया की उसने पहले ही नकेल कस रखी है। यह घोषित कर दिया गया है कि जो भी सरकार के माओवादी अभियान के खिलाफ लिखेगा या मात्र जंगल में भी जाएगा वह माओवादी समर्थक माना जाएगा।

छत्तीसगढ़ सरकार ने एक रणनीति के तहत बस्तर में आदिवासियों को घेरना शुरू किया है। उनके समर्थकों को एक-एक करके या तो इलाके से बाहर निकाला जा रहा है अथवा अंदर घुसने ही नहीं दिया जा रहा। सलवा जुडुम के नाम पर कुछ आदिवासियों को ही खड़ा कर सरकार की कार्यपद्धति पर सवाल उठाने वालों का विरोध करवाया जाता है। नागरिक अधिकारों पर पूरी तरह से अघोषित प्रतिबंध लगे हैं। सरकार की रणनीति का विरोध करने वाले को माओवादी समर्थक घोषित कर दिया जाता है।

वर्तमान छत्तीसगढ़ में लोकतंत्र पर काले बादल छाए हुए हैं। सरकार पूंजीपतियों के हित साधने में लगी है। उन्हें प्राकृतिक संसाधनों पर कब्जा दिलाने के लिए जो भी ढांचागत विकास होना है वह किया जा रहा है। आदिवासी को रास्ते का रोड़ा मान कर उसे व उसके समर्थकों को रास्ते से ही हटाने की सरकार की मंशा है। इस काम में माओवादियों का हौआ खड़ा करना उसकी रणनीति का हिस्सा है। माओवादियों के नाम पर आदिवासियों को ही खत्म करने के लिए केन्द्र सरकार ने ऑपरेशन ग्रीन हंट के नाम से एक अभियान भी चलाया हुआ है। बीच में तो यह भी तैयारी थी कि सेना से हवाई हमला करवाया जाए। किंतु राष्ट्रीय स्तर पर इस प्रस्तावित कार्यवाही पर सवाल उठने से फिलहाल तो यह टल गई है।

छत्तीसगढ़ में सबसे बड़ा खतरा इस समय लोकतंत्र पर ही है। वर्तमान सरकार के रहते यह दिखाई नहीं पड़ता कि नागरिकों के मौलिक अधिकार भी सुरक्षित रह पाएंगे। किसी भी किस्म के प्रतिरोध को, माओवादियों का हौआ दिखा, खड़ा होने का मौका ही नहीं दिया जाता है। भय और आतंक का ऐसा माहौल बनाया गया है कि छत्तीसगढ़ के अंदर से कोई आवाज उठनी सम्भव नहीं। बाहर से कोई वहां जा कर सवाल उठा नहीं सकता।

भारत में लोकतंत्र की हिफाजत की फिक्र करने वालों के लिए इस समय सबसे बड़ी चुनौती यह होनी चाहिए कि छत्तीगढ़ में लोकतंत्र को जिन्दा कैसे रखा जाए?

मध्य भारत में वामपंथी उग्रवाद के मुद्दे

वासंती रमण

सुप्रसिद्ध मानवशास्त्री लखनऊ विश्वविद्यालय के प्रो. नदीम हसनैन का अवधारणा प्रलेख वास्तव में एक महत्वपूर्ण और बहुचर्चित समकालीन राजनीतिक मुद्दे पर बहस के लिए अत्यन्त उपयुक्त प्रतीत होता है। अवधारणा प्रलेख इस बात पर बल देता है कि स्वतंत्रता के बाद का यह एक अत्यंत गंभीर मुद्दा है। परन्तु साथ ही साथ यह भी कहता है कि इस समस्या के समाधान के दो पृथक पथ हैं। इसका एक दृष्टिकोण जो मुख्यधारा में अधिक छाया हुआ है, इस मुद्दे को आंतरिक सुरक्षा का मुद्दा मानता है। अतएव इसको सुलझाने के ढंग की भी भविष्यवाणी की जा सकती है- अर्थात् आंदोलन को सरकार के सशस्त्र बलों से दबाना तथा नष्ट करना। दूसरा दृष्टिकोण जो कि बहुत से विद्वानों, सामाजिक कार्यकर्ताओं एवं कुछ नीति निर्णायकों का है, मध्य भारत में आंदोलन का स्वरूप निर्धारित करने के संबंध में है, वह हाशियाकरण एवं सामाजिक अलगाव के विरुद्ध है। वे कहते हैं कि यह मुख्यतः सामाजिक-आर्थिक समस्या है, जिसके अनुसार सरकार को, राजनीतिक वर्ग को दीर्घकालीन एवं रूढ़िगत अलगाव को दूर करना होगा।

योजना आयोग की वंद्योपाध्याय समिति की रिपोर्ट के अनुसार देश के १५ राज्यों के २०० जिले माओवाद से प्रभावित हैं। यह क्षेत्र एवं वहां की जनजातियां 'विकास' से सदैव वंचित रही हैं। भूमि अलगाव एवं ऋण ग्रस्तता- ये वहां की दो मूल समस्याएं हैं। स्वास्थ्य एवं शिक्षा सेवाओं के लाभों ने इनके जीवन को लेशमात्र भी स्पर्श नहीं किया है। पिछले कुछ समय से विस्थाापन का मुद्दा भी एक गंभीर समस्या बन गया है जिससे लोगों का जीवन पूर्णतः अस्त-व्यस्त हो गया है। मध्य भारत की ७०-८० प्रतिशत जन-जातियां अपने जीवन-निर्वाह के लिए भूमि वनों तथा उनसे संबंधित संसाधनों पर निर्भर हैं। ऐसा भी कहा जाता है कि माओवादियों ने जनजातियों की इन कमजोरियों का लाभ उठाकर उनमें अपना आधार बना लिया है। इस स्थिति से उबरने का उपाय बताते हुए अवधारणा प्रलेख में यह सुझाव दिया गया है कि भूमि संबंधी दस्तावेजों को सुधारा जाए तथा बेनामी जोत का उन्मूलन किया जाय। हाल के संबंधित अधिनियमों को जैसे भूमि अधिग्रहण अधिनियम, न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, बंधुआ श्रम अधिनियमों आदि को पूर्णरूपेण जांचा जाए एवं इनमें सुधार किया

जाए। एक अन्य महत्वपूर्ण मुद्दा परम्परागत कानूनों का है, इन्हें संहिताबद्ध किया जाए एवं इनका सम्मान किया जाए। स्वदेशी ज्ञान-विज्ञान प्रणाली की भी अनुभूति एवं आदर सहित विवेचना की जाए तथा इसका हमारे ज्ञान भंडार में महत्व तथा योगदान परखा जाए। अवधारणा में एक महत्वपूर्ण विचार यह भी है कि सलवा जुडुम राजनीति को नकारता है तथा राज्य के उत्तरदायित्व के त्याग को वैध ठहराता है।

शोषण, उत्पीड़न एवं हाशियाकरण के विरुद्ध संघर्ष का इतिहास

आज के इस जटिल मुद्दे पर अपने विचार प्रकट करते हुए मैं निश्शंक होकर कहना चाहती हूं कि मैं उस पीढ़ी की हूं जो १९६० के दशक के नक्सलवादी विद्रोह से प्रेरित हुई थी। नक्सलवाद ने भूमिहीन तथा अल्प-भूमि वाले किसानों को एक सामाजिक नव-निर्माण का सपना दिखाया था जिसमें स्वार्थी सामंतों, सरकार द्वारा नियंत्रित नौकरशाहों एवं जमींदारों द्वारा किए जाने वाले शोषण समाप्त हो जाएँगे। अतएव, इस संदर्भ में सामाजिक एवं राजनीतिक शक्तियों तथा राजनीतिक मंच के विभिन्न अभिनेताओं के संतुलन के सम्पूर्ण आकलन का पुनरवलोकन आवश्यक है। उन्नीसवीं सदी के मध्य से किसानों एवं आदिवासियों ने सतत् अपनी आवाज बुलंद रखी है जब विभिन्न जनजातियों ने औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध विद्रोह का झंडा उठाया था। विरसा मुंडा, सिद्धू कान्हे तथा तिलका मांझी के नेतृत्व में विभिन्न जनजाति समूह छोटा नागपुर क्षेत्र के ऐतिहासिक मंच पर सक्रिय थे। वे सचमुच इतने प्रभावशाली थे कि अंग्रेज शासकों को उन्हें भारी संख्या में पूर्वी भारत के चाय बागानों में भेजने की व्यवस्था करनी पड़ी, ताकि चाय बागान सुचारु रूप से चलाए जा सकें एवं विद्रोह के ज्वार की रोकथाम की जा सके। उन्होंने संथाल एजेंसी एरिया की स्थापना भी की, जिसमें काफी संख्या में संथालों को आज के पश्चिमी आसाम में संस्थापित किया गया। (आज भी बोडोलेंड आंदोलन के उपरांत काफी संख्या में संथाल औरतें तथा बच्चे वहां कैम्पों में विस्थापित हैं।) सुस्पष्ट है कि उपरोक्त आंदोलनों का लक्ष्य अंग्रेजी साम्राज्यवादी शासन को उखाड़ फेंकना था, यद्यपि इसमें काफी लुका-छिपी एवं यदा-कदा खुले आम मर मिटने के आयाम भी मौजूद थे। साम्राज्यवाद विरोधी इतिहास के लिखने वाले विद्वानों ने उलगुलाल की भूमिका को भी मान्यता दी है।

पूर्वी भारत में १९४० के दशक में तेभागा आंदोलन के दौरान अर्द्ध आदिवासी किसान भी विद्रोह में उठ खड़े हुए, जिसका नेतृत्व कम्युनिस्टों का था। तेलंगाना आंदोलन भी कम्युनिस्टों के नेतृत्व में हुआ किंतु यह अधिक जटिल था। इस आंदोलन में भी आदिवासियों ने बढ़ चढ़कर हिस्सा लिया और फिर १९६० में नक्सलवादी विद्रोह भी अर्द्ध आदिवासी व कम भूमि वाले किसानों का था, जिसका नेतृत्व करनेवाले विद्रोही कम्युनिस्ट थे जो कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया (मार्क्सिस्ट) से अलग हुई एक टुकड़ी थी।

इन आंदोलनों में महत्वपूर्ण बात है, इनके समानता एवं न्याय के व्यापक सामाजिक एवं राजनीतिक लक्ष्य थे तथा इनमें वामपंथियों की भूमिका महत्वपूर्ण थी। ये आंदोलन इतनी हद तक इस कारण चले कि इनको आदिवासी कृषक वर्ग का आधार प्राप्त था। जब इनके नेता जन सामान्य की विचारधारा से दूर चले गए तथा दुःसाहसपूर्ण मार्ग अपनाया तो राज्य के सशस्त्र बलों ने इनको कुचल कर रख दिया। फिर भी इन आंदोलनों की सफलता का विशेषकर नक्सलवादी आंदोलन की सफलता का प्रमाण यह था कि सरकार को विभिन्न क्षेत्रों में मजबूर होकर सामंती शोषण को कम करने के लिए विवश होना पड़ा।

स्वतंत्रता के समय से कल्याणकारी सरकार के विकास प्रतिमान

स्वतंत्रता के समय से ही भारत सरकार के विकास प्रतिमानों की मुख्य धारा आदिवासियों, दलितों तथा अन्य निम्न वर्गों को ही शिकार बनाने की रही है। इन्हीं समूहों को सदैव विकास की कीमत चुकानी पड़ी है। हालांकि संविधान जाति, सम्प्रदाय, लिंग भेद, क्षेत्र आदि का भेद किए बगैर सबको समानता का अधिकार देता है। सामाजिक ढांचा जाति, वर्ग, क्षेत्र, धर्म, लिंग भेद की विसंगतता से परिपूर्ण है। विकास की नीतियां संविधान में निहित सामाजिक लक्ष्यों और वर्गों तथा विभाजित समाज की खाई को पाट नहीं सकी हैं। इसके विपरीत विकास की नीतियों ने इन विसंगतियों को बढ़ावा ही दिया है, जिन्हें दूर किया जाना था। इस प्रकार भारत के अधिकांश नागरिकों के लिए मूलभूत समानता एक दिवास्वप्न ही बनकर रह गई। विशेषतः उनके लिए जो परम्परागत सामाजिक ढाँचे की निचली सीढ़ियों पर थे। मध्य भारत की आदिवासी जातियां क्षेत्रीय, सामाजिक एक राजनीतिक अर्थों में सदैव अलग-थलग एवं हाशिये पर रहीं।

एक अन्य मापदंड जो विद्वत मंडली एवं राजनीतिक ध्यान से दूर रहा है मगर हमारी प्रस्तुत चर्चा से संबंधित है, वह है भारतीय सरकार का सामाजिक आधार। भारतीय सरकार केवल संविधान नहीं है। इसमें सरकारी कर्मचारी, प्रशासन, पुलिस, न्यायपालिका आदि शामिल हैं। सरकार में सदैव उच्च जातियों तथा वर्गों अथवा मध्य वर्ग की ऊपरी पर्तों का वर्चस्व बना रहा। सरकार के विकास संबंधी कदमों के आम आदमी तक पहुंचने में इस तथ्य की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के बारे में संवैधानिक लाभों को उन तक पहुंचाने का संघर्ष इस बात का अच्छा उदाहरण है कि सरकारी कर्मचारी वर्ग ने इस नीति के कार्यान्वयन में कितनी उदासीनता दिखाई है और लापरवाही बरती है। भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों तथा निजी एवं सरकारी कम्पनियों के शीर्षस्थ अधिकारियों की सामाजिक पृष्ठभूमि पर संतोष गोयल (१९९० ए १९९० बी) द्वारा किया गया एक अध्ययन दर्शाता है कि इन क्षेत्रों में उच्च जातियों का वर्चस्व है। इसी प्रकार प्रचुर आंकड़े उपलब्ध हैं कि सरकार तथा प्रशासन में अल्पसंख्यकों, विशेषतः मुसलमानों (भारत में सबसे अधिक अल्पसंख्यक) की संख्या काफी कम है। सिक्के का दूसरा पहलू यह भी है कि अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के अधिकतर कर्मचारी तृतीय तथा चतुर्थ वर्ग के पदों पर हैं तथा प्रथम एवं द्वितीय वर्गों के पदों में इनकी संख्या कम हैं।

प्रशासनिक कर्मियों की सामाजिक दृष्टि समाज में लोकतंत्र लाने में सामाजिक एवं राजनीतिक गतिशीलता से निपटने में महत्वपूर्ण है। हमारे विचार से एक लोकतांत्रिक समाज के निर्माण की परियोजना की विफलता का कारण है- संघर्ष के वास्तविक स्रोतों को दूर करने में प्रशासन में उच्च वर्ग के अधिकारियों की अक्षमता या अनिच्छा, यहां तक कि विरोध। एक तर्क यह भी है कि एक लोकतांत्रिक सामाजिक व्यवस्था के मूलभूत पुनर्निर्माण का अर्थ यह होता कि भूमि हल चलाने वाले को सौंपी जाती तथा आधारभूत पुनर्वितरण के कदम उठाए जाते। यद्यपि जमींदारी उन्मूलन अधिनियम तथा विभिन्न भूमि संबंधी सुधारों के अधिनियम पारित किए गए जिनसे सामाजिक संबंधों में महत्वपूर्ण परिवर्तन आए, किंतु इन्हें कार्यान्वित करने में प्रशासन ने अपने सामान्यतः ढीले-ढाले रवैये से बहुत अवरोध उत्पन्न किए।

इस प्रकार स्वतंत्रता के पश्चात् के 'विकास' की कहानी कुछ इस प्रकार है कि लाभार्थियों के प्रतिमानों में अधिकतर उच्च जातियों, उच्च वर्ग एवं उच्च मध्य वर्ग के पुरुष रहे हैं जबकि अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के तथा देश के पिछड़े हुए क्षेत्रों के निम्न वर्ग के गरीब समूह जिनकी आय आदि के सूचकांक ठीक नहीं हैं, इसके शिकार रहे हैं।

निश्चित तौर पर सामाजिक प्रक्रिया को उजागर करने के लिए हमें अधिक जटिल सूचकांकों का प्रयोग करना पड़ेगा जिनके अनुसार विकास के प्रतिमानों का लाभ कुछ जातियों एवं वर्गों को ही मिल पाया है जबकि अन्य लोग इन लाभों से या तो वंचित रहे हैं अथवा इनका खामियाजा भुगता है। यह इस प्रकार के ध्रुवीकृत प्रतिमानों का प्रभाव इंगित करने के लिए काफी है।

यह सही है कि किसी भी विकास के प्रतिमानों में बुर्जुआ-उदारवादी ढांचे के अंतर्गत ध्रुवीकरण निहित है, मगर जो केवल हाल में मान्यता बन रही है वह यह है कि भारतीय समाज में इससे अनेकों दरारें एवं खांचे पड़ रही हैं और बढ़ रही हैं।

नव-उदारवादी प्रतिमान

१९९० के दशक से नवउदारवादी प्रतिमान के आगमन से विकास की प्रकृति के साथ ही विकास की चर्चा के प्रतिमानों में परिवर्तन आया है। १९९० ई. के दशक के बाद के दशकों में स्वतंत्रता के बाद के वर्षों में राजनीतिक सहमति में अलगाव आया है, यह केंद्र में मुख्य राजनीतिक दलों एवं वामपंथियों के बीच में राष्ट्र-निर्माण योजना में सहमति के अंत का चिह्न है।

हमारे विचार में १९९० ई. के दशक के पूर्व तथा बाद के वर्षों में अंतर है कि सरकार की प्रकृति, परिप्रेक्ष्य तथा सामाजिक शक्तियों के संतुलन में परिवर्तन से समाज एवं राजनीति में दूरगामी परिवर्तन आ गए हैं। एक ओर तो अंतरराष्ट्रीय स्तर पर अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व बैंक एवं नव-उदारवादी प्रतिमानों के आधिपत्य से गंभीर परिवर्तन आ गए हैं तो दूसरी ओर कांग्रेस के प्रतिनिधित्व में केंद्रीय शक्ति का ह्रास हो गया है। इस प्रकार से बना निर्वात दक्षिणपंथी विचारधारा तथा सामाजिक डार्विनवाद की आड़ में स्वदेशी 'हिन्दुत्व' तथा बाजार-संचालित विकास की दो विचारधाराओं से भर गया है। हमारे विचार में पूर्व की सहमति तथा वर्तमान सत्ता में महत्वपूर्ण अंतर यह है कि राजनीतिक वर्ग ने लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता एवं कमजोर वर्गों के कल्याण के लिए प्रतिबद्धता के सिद्धांतों को भी तिलांजलि दे दी है। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर इसका अर्थ है गुट निरपेक्षता के सिद्धांत को तिलांजलि दे देना। नब्बे के दशक के बाद के संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रमों के लागू करने का अर्थ है- समग्र विकास प्रतिमानों में भारी बदलाव।

राजनीतिक रूप से सबसे महत्वपूर्ण तथ्य रहा है कि सरकार ने नागरिकों के कल्याण के लिए संविधान द्वारा अनिवार्य करार दिए गए एवं उत्तरदायी नियमों का भी परित्याग कर दिया है। साथ ही साथ सरकार द्वारा कल्याणकारी राज्य के प्रतिमानों का परित्याग तथा नव-उदारवादी प्रतिमानों को मान्यता देने से अधिकांश भारतीय नागरिकों के जीवन के लिए गंभीर समस्याएं उत्पन्न हो सकती हैं। सामाजिक क्षेत्र विशेषतः स्वास्थ्य, शिक्षा, खाद्य सुरक्षा के प्रावधान आदि में सरकार ने अपने उत्तरदायित्व का परित्याग कर दिया है। साथ ही साथ सरकार ने ऐसी आर्थिक नीतियां अपनायीं जिनसे औपचारिक क्षेत्र में बेरोजगारी में वृद्धि हुई।

सरकार की इस प्रकार की नीतियों से अनौपचारिक क्षेत्र में भी बेराजगारी का खतरा बढ़ा। कृषि के व्यापारीकरण से निर्वाह योग्य पारंपरिक कृषि की दुर्दशा हो गई। कारीगरों, विशेषकर जुलाहों की हालत खस्ता हो गई है। जीवन बर्बाद हो रहा है। लोगों की असुरक्षा बढ़ गई है तथा भारतीय समाज में ध्रुवीकरण तीव्र हो गया है एवं विभाजन की दरारें और अधिक बढ़ गई हैं। महत्वपूर्ण बात यह है कि वर्ग, जाति, क्षेत्र, धर्म और लिंग के आधार पर विभाजन तेज हो गया है। संक्षेप में, एक कल्याणकारी राज्य के निर्माण एवं विकास की सम्पूर्ण योजना में सरकार ने अपनी मुख्य भूमिका का परित्याग कर दिया है तथा इसके स्थान पर नव उदारवादी प्रतिमान की पूरी नई व्यवस्था अपने तर्क

के साथ थोप दी गई है। अधिकतर भारतीयों का पूरा संसार बदतर होता जा रहा है तथा उनकी पुरानी सुरक्षा समाप्त हो गई है।

मध्य भारत के जनजातीय लोगों के लिए पहाड़ों तथा जंगलों में अपने परम्परागत झोपड़ों में अत्यंत गरीबी के साथ रहने एवं जीवन-निर्वाह करने का अधिकार भी अब संभव नहीं रहा। यहां नव उदारवादी प्रतिमानों का अर्थ है- सार्वजनिक संसाधनों तथा परम्परागत आजीविका एवं घर-बार की भारी लूट। पूंजीवाद की मिली भगत के उदय और प्रभुत्व ने सार्वजनिक तथा प्राकृतिक संसाधनों की भारी लूट को वैध बना दिया है। मध्य भारत ऐसा क्षेत्र है जो प्राकृतिक संसाधनों से समृद्ध है। वहां भारतीय एवं विदेशी कम्पनियों के साथ विकास के नाम पर चार सौ से अधिक समझौता पत्रों पर हस्ताक्षर किए गए हैं।

आज मध्य भारत के आदिवासी लोग न केवल अपनी जमीन और घरों के लिए अपनी आखिरी सांस तक लड़ रहे हैं बल्कि भारतीय एवं विदेशी कम्पनियों द्वारा सार्वजनिक एवं प्राकृतिक संसाधनों की अथाह लूट के विरुद्ध भी लड़ाई लड़ रहे हैं। मुख्य मुद्दा यह है कि सार्वजनिक एवं प्राकृतिक संसाधनों की लूट को सरकार न सिर्फ वैध करार कर रही है बल्कि इस प्रक्रिया को सरल भी बना रही है।

नव उदारवादी विचार

नव उदारवादी विचारों का आधिपत्य विकास मुद्दों को समझने की प्रक्रिया को प्रभावित करता है। नव उदारवादी विचारों का एक घटक जान ब्रेमान द्वारा प्रयोग की गई 'सामाजिक डार्विनवाद' शब्दावली का निश्शंक प्रचार है। 'सामाजिक डार्विनवाद' के एक विषाक्त रूप का पुनरुत्थान हो रहा है जिसके अंतर्गत कमजोर वर्गों के कल्याण के लिए उनकी सुरक्षा के उपायों का या तो परोक्ष रूप से, सरकार की शक्ति को कम करके अथवा भारी संख्या में भारतीयों की जीविका के साधनों को सीधे प्रभावित करके विरोध किया जा रहा है।

मध्य भारत में इस मुद्दे को सार्वजनिक विवाद में इस तरह चित्रित किया जा रहा है कि यह भारतीय राज्य की आंतरिक सुरक्षा का प्रमुख मुद्दा है। कुछ अपवादों को छोड़कर मीडिया के एक बड़े वर्ग के साथ-साथ राष्ट्रीय स्तर एवं राज्य स्तर पर सरकार के विभिन्न अंग उपरोक्त विचारधारा के समर्थक हैं। इसलिए इस मुद्दे को इस क्षेत्र के लोगों की हिंसा के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है, किंतु वहां के लोगों को उनकी जमीन तथा घरों से राज्य समर्थित तरीके से बड़े पैमाने पर बेदखल किया जा रहा है।

इस तरह का दृष्टिकोण और सरलता से तूल पकड़ लेता है क्योंकि अधिकतर मध्यवर्ग, विशेषतः शहरी इलाकों में, इसका समर्थक है। पिछले दो दशकों से अधिक में मध्यवर्ग में परिवर्तन आ गया है क्योंकि इनकी परतों में भेदभाव हो गया है। मध्यवर्ग के काफी लोगों को इन विकास प्रतिमानों का लाभ मिला है तथा उच्च स्तरीय मध्यवर्ग तो इस नव उदारवादी विकास का पक्षपाती एवं खुला समर्थक बन गया है।

हस्तक्षेप की आवश्यकता

दरारें बढ़ जाने तथा खाइयां बढ़ जाने के साथ-साथ भारतीय समाज का अधिक ध्रुवीकरण हो गया है। अब बहुत से लोग दो हिन्दुस्तान की बात करने लगे हैं। इनके बीच की खाई लगभग अपाट्य हो गई हैं। छत्तीसगढ़, दंतेवाड़ा तथा दडंकारण्य दूसरा हिन्दुस्तान है। इस ध्रुवीकरण में वर्धा का क्या

स्थान है? इसमें हमारा क्या स्थान है, और हमारा क्या विचार है? महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा के कुलपति विभूति नारायण राय जी ने एक मुद्दा यह उठाया है कि सरकार को अधिक जवाबदेह एवं लोकतांत्रिक बनाना होगा। यह कहना आसान है मगर करना मुश्किल। पहले तो इसका अर्थ यह होगा कि ऐसे संवेदनशील विद्वानों तथा उत्साही कार्यकर्ताओं की आवश्यकता होगी जो अपनी जमीन तथा घरों की रक्षा करने के लिए तैयार मध्य भारत के लोगों का साथ दें ताकि सार्वजनिक प्राकृतिक संसाधनों के बड़े पैमाने पर हड़पने के अभियान को रोका जा सके। जब उन लोगों को यह आभास होगा कि इस संघर्ष में वे अकेले नहीं हैं तभी इस तरह के हस्तक्षेपों की सफलता की आशा की जा सकती है।

अत्यन्त ध्रुवीकृत अवस्था में सामान्य लोकतांत्रिक प्रक्रिया के लिए मध्य मार्ग प्रशस्त करना कठिन है। लेकिन फिर भी पहला कदम तो उठाना ही पड़ेगा। इस अवधारणा प्रलेख में कुछ कदमों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। जमीन सम्बन्धी विभिन्न अधिनियमों में मूलभूत सुधार, जनजातीय लोगों का सशक्तिकरण सुनिश्चित करने के लिए विकेंद्रीकरण के उपाय, सतत् विकास के प्रतिमान की आवश्यकता, स्वदेशी ज्ञान प्रणाली तथा प्रथाओं की सुरक्षा की समस्याएं आदि सार्थक हस्तक्षेप की पूर्व आवश्यकताएं हैं। किंतु मूलतः यह सुनिश्चित करना आवश्यक होगा कि जनजातियों को संविधान के अनुसार कानून के अंतर्गत समानता प्रदान करके नागरिक मानना होगा।

कुछ वक्ताओं द्वारा उठाया गया हिंसा का प्रश्न अभी शेष है। जहां सरकार ने अपनी जनता के विरुद्ध युद्ध छेड़ रखा हो वहां हिंसा के प्रश्न पर किस प्रकार विचार किया जाए। अधिकांश जनता के शोषण, अलगाव और आतंक की कई शताब्दियों तथा जेकोबियों के संक्षिप्त आतंकी शासन के परिणाम स्वरूप हुई फ्रांसिसी क्रांति के संदर्भ में मुझे मार्क ट्वेन का कथन याद आता है।

वास्तव में इसमें कोई संदेह नहीं है कि हिंसा किसी आंदोलन का राजदर्शन नहीं हो सकती और न ही यह किसी आंदोलन का मुख्य साधन या हथियार बन सकती है। यहां मैं जोर देकर यह कहना चाहती हूं कि ऐसे लोगों जो हथियार उठाने को मजबूर हो गए हैं तथा संगठन जो उनका नेतृत्व करते हैं के बीच के अंतर को हमें समझना चाहिए। एक न्यायपरक, सर्वजनहिताय और अधिक लोकतांत्रिक भारत का निर्माण हमारा सर्वप्रथम उत्तरदायित्व है। यदि जन-जातियों को भारतीय नागरिक होने के नाते सामान्य लोकतांत्रिक प्रक्रिया के मार्ग में उनका सही स्थान वास्तव में सुनिश्चित कर दिया जाए तो हिंसा की समस्या अप्रासंगिक हो जाएगी। मगर तब तक हम एक कठिन दौर में गुजर रहे हैं जब हमें कोई पक्ष तो अपनाना होगा। हमारा मुख्यतः कार्य होगा कि लोकतंत्र एवं न्याय सब तक अवश्य पहुंचें।

भारत की मौजूदा परिस्थितियों में माओवाद पूरी तरह अप्रासंगिक

रमेश दीक्षित

मानवाधिकारों के पैरोकार राज्य के सुरक्षा बलों द्वारा माओवादी संगठनों के खिलाफ की जा रही हिंसक कार्रवाई की सही ही निंदा करते हैं परन्तु माओवादी संगठनों द्वारा की जा रही हिंसा को राज्य की हिंसा की प्रतिक्रिया में की जा रही हिंसा बताते हुए उसे हर हालत में या तो औचित्यपूर्ण ठहराते हैं अथवा अनदेखा कर देना चाहते हैं। यहां प्रश्न यह उठता है कि क्या मानवाधिकार केवल माओवादियों के ही होते हैं, आम जनता के उन तबकों के नहीं जो माओवादियों के द्वारा सरकारी एजेंसियों के मुखबिर या वर्गशत्रु ठहरा दिए जाने के बाद तथाकथित जनसुनवाई का नाटक कर माओवादियों की कंगारू अदालतों द्वारा बर्बर तरीके से मौत के घाट उतार दिए जाते हैं।

कम्युनिस्ट पार्टी आफ इण्डिया (माओवादी) को प्रतिबंधित करने के बावजूद उनके विरुद्ध राज्य के सुरक्षाबलों का सैन्य अभियान कामयाब नहीं हो सका है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि माओवादियों को उन इलाकों में जनता के वर्गों, विशेषकर आदिवासियों के कुछ समूहों का समर्थन अवश्य हासिल है जहां उन्होंने अपने प्रभावक्षेत्र बनाये हुए हैं। माओ ने कहा था कि साम्यवादी छापामार दस्ते पानी और मछली की तरह अपने सुरक्षित इलाके में जनसमर्थन के बल पर ही जीवित रह सकते हैं। स्थानीय जनता के कुछ समूहों द्वारा उपलब्ध कराए गए ठोस आर्थिक और एक हद तक सामरिक समर्थन और सहयोग के बिना किसी भी प्रतिबंधित संगठन के कार्यकर्त्ता किसी भी इलाके में लम्बे समय तक अपनी सांगठनिक गतिविधियां लगातार चलाते रहने में कामयाब नहीं हो सकते और यह समर्थन केवल आतंक के बल पर हासिल नहीं किया जा सकता। साफ जाहिर है कि माओवादी अपने कब्जे के इलाकों में जनता के कुछ समूहों की सहानुभूति और समर्थन पाकर अपने प्रभावक्षेत्र का विस्तार कर पाने में सफल रहे हैं।

यही कारण है कि केंद्र और राज्य सरकारों द्वारा अलग-अलग और संयुक्त रूप से भी चलाये जा रहे सघन सैन्य अभियान और स्थानीय जनता को आपस में लड़वाने की सलवा-जुडुम जैसी मुहिम चलाने के बावजूद राज्य की मशीनरी उग्र वामपंथी गतिविधियों को समाप्त कर पाने में अक्षम साबित हुई। जिन इलाकों में माओवादी सक्रिय हैं वे घने जंगल, पठार और पहाड़ियों वाले ऐसे इलाके

हैं जहां आजादी के छह दशकों में विकास की रोशनी का छोटा हिस्सा भी पहुंचाने की जरूरत महसूस नहीं की गई और जहां स्थानीय आदिवासियों की आजीविका के पारंपरिक संसाधनों को जबरन छीन कर विकास की मृगमरीचिका के नाम पर देशी और विदेशी बहुराष्ट्रीय कारपोरेट घरानों को कौड़ी के मोल बेचा जा रहा है।

विकास की रोशनी से महरूम इन इलाकों में शताब्दियों से बसे आदिवासी राज्य (केंद्र और राज्य दोनों) की कारपोरेट-पोषक आर्थिक नीतियों तथा विकास के पूंजीवादी माडल के कारण विस्थापन और बेदखली का शिकार हो रहे हैं। इन इलाकों की कोयला, अभ्रक, इस्पात, बाक्साइट, यूरेनियम जैसी बहुमूल्य खनिज संपदा स्थानीय आबादी के विरोध और प्रतिरोध के बावजूद कारपोरेट घरानों की लूट के लिए सरकारी संरक्षण में उपलब्ध करा दी गई है। एक के बाद एक बहुराष्ट्रीय कंपनी के साथ 'मेमोरेंडम आफ अंडरस्टैंडिंग' पर हस्ताक्षर कर केंद्र और राज्य सरकारें कारपोरेट घरानों के बिचौलियों की तरह काम करती हुई आदिवासियों के शोषण में भागीदार बन रही हैं। वैश्वीकरण के दौर की शुरुआत के बाद भारतीय राज्य की कारपोरेट समर्थक और पोषक खनन नीतियों की वजह से बदहाली की दशा में पहुंच चुके आदिवासी समूहों के बीच माओवादियों की पैठ आदिवासियों के हमदर्द के रूप में ही संभव हो सकी है। राज्य की आर्थिक नीतियों में बुनियादी बदलाव और इन इलाकों की वन, जल और खनिज संपदा की अंधाधुंध लूट पर रोक लगाए बगैर केवल कानून और व्यवस्था कायम रखने के लिए चलाए जा रहे सैन्य और पुलिस अभियानों को कोई कामयाबी मिलने वाली नहीं है। इसमें कोई संदेह नहीं कि समुचित सामाजिक आर्थिक विकास न होने, रोजी रोटी के वैकल्पिक अवसर न मिलने तथा पुलिस और वन विभाग के अधिकारियों-कर्मचारियों द्वारा दैहिक, आर्थिक शोषण के कारण स्थानीय आदिवासियों में राज्य और उसकी सभी एजेंसियों तथा जंगल के ठेकेदारों के प्रति उपजा असंतोष इन इलाकों में माओवादियों के प्रभावक्षेत्र के विस्तार का वैध आधार बना है।

जब तक भारतीय समाज और राज्य आर्थिक गैरबराबरी और सामाजिक अन्याय की पोषक ताकतों के पक्ष में खड़ा हुआ दिखाई देता रहेगा और आर्थिक वृद्धि की दर नौ फीसदी बढ़ने के बावजूद आबादी का अस्सी फीसदी हिस्सा गरीबी और भुखमरी की मार झेलने के लिए अभिशप्त रहेगा तब तक आदिवासियों, श्रमिकों, भूमिहीनों, छोटे और सीमांत किसानों तथा आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था की मुख्यधारा के बाहर हाशिये पर ढकेले गए समूहों के बीच वामपंथ की स्वीकार्यता और आवश्यकता बनी रहेगी। परन्तु यह भी एक ऐतिहासिक सच्चाई है कि दुनिया के किसी भी देश में कोई भी वामपंथी दल या संगठन जनता के विभिन्न तबकों - मजदूरों, किसानों भूमिहीनों तथा अन्य फटेहाल समूहों - को संगठित किए बगैर केवल हिंसक गतिविधियों के बूते पर किसी भी तरह की समाजवादी क्रांति का हिरावल दस्ता बनने में कामयाब नहीं हो सकता है। जनता के नाम पर, जनता के ही खिलाफ विवेकशून्य बर्बर हिंसक गतिविधियां संचालित करने वाले संगठन छापामार हिंसक तरीकों से राजसत्ता पर कब्जा करने का केवल दिवास्वप्न ही देख सकते हैं। छापामार सशस्त्र संघर्ष केवल साम्राज्यवाद और सैन्य अधिनायकवाद के खिलाफ ही कामयाब होते रहे हैं। चीन में माओ और वियतनाम में हो ची मिन्ह तथा जनरल जियाप की अगुवाई में सशस्त्र गुरिल्ला संघर्ष की कामयाबी को इसी संदर्भ में समझा जा सकता है।

फिदेल कास्त्रो के साथ कंधे से कंधा मिला कर क्यूबा में सशस्त्र क्रांति करने वाले अर्नेस्टो चे ग्वेवारा ने १९६१ में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'ए हैण्डबुक आफ गुरिल्ला वारफेयर' के शुरुआती पृष्ठों में ही छापामार सशस्त्र संघर्ष की सीमाएं भी स्पष्ट कर दी थीं। क्यूबा में क्रांति के बाद क्यूबा की सरकार में मंत्री पद छोड़ कर समूचे लातिन-अमरीका के सभी देशों में साम्यवादी क्रांति करने के

लक्ष्य के साथ बोलीबिया में छापामार युद्ध शुरू करने वाले चे ने लिखा कि जिन देशों में लोकतांत्रिक तरीके से मताधिकार द्वारा चुनी हुई सरकारें हैं- भले ही वहां लोकतंत्र के नाम पर फर्जी (fraudulent) लोकतंत्र ही क्यों न हो- वहां छापामार सशस्त्र संघर्ष के कामयाब होने की संभावनाएं लगभग शून्य होती हैं। चे ग्वेवारा अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता और कुशल सांगठनिक क्षमता के बावजूद क्यूबाई क्रांति की सफलता की कहानी छापामार सशस्त्र युद्ध के लिहाज से सर्वाधिक अनुकूल जंगलों और पहाड़ियों वाली बोलीविया की भौगोलिक स्थितियों में दोहरा नहीं सके और शहीद हो गए। उनके साथी रेजिस देब्रे ने भी अपनी १९६७ में प्रकाशित पुस्तक 'रिवोल्यूशन इन द रिवोल्यूशन' और १९७० में प्रकाशित 'स्ट्रैटेजी फार रिवोल्यूशन' में सशस्त्र क्रांतिकारी छापामार दस्तों की सामर्थ्य और सीमाओं की चर्चा की है।

साफ जाहिर है कि किसी भी क्रांति की कामयाबी उसके हिरावल दस्तों की वैचारिक दृष्टि, प्रतिबद्धता और जज्बे पर ही निर्भर नहीं करती, क्रांति की सफलता में उस समाज और राज्य की आर्थिक-राजनीतिक संस्थाओं की संरचना, शासक वर्ग के चरित्र के सही आकलन, आर्थिक-भौगोलिक-राजनीतिक परिदृश्य की वस्तुनिष्ठ समझ, जनता के विभिन्न वर्ग संगठनों जैसे मजदूरों-किसानों और अन्य मेहनतकश तबकों के संघों की सांगठनिक शक्ति और जनता की आकांक्षाओं और अपेक्षाओं के साथ वामपंथी दलों के सापेक्षिक जुड़ाव की भी निर्णायक भूमिका रहती है। वस्तुनिष्ठ आर्थिक-राजनीतिक परिस्थितियों का सम्यक् आकलन किए बगैर शुरू की गई कोई भी तथाकथित क्रांतिकारी गतिविधि मार्क्सवादी-लेनिनवादी शब्दालवली में 'वामपंथी दुस्साहसिकता' ही कही जा सकती है, क्रांतिकारी गतिविधि नहीं।

भारत में उग्रवादी वामपंथ विगत दो दशकों में ही उभरा हो, ऐसा नहीं है। आजादी के तुरंत बाद तत्कालीन एकीकृत कम्युनिस्ट पार्टी आफ इण्डिया के भीतर कुछ उग्रवादी नेताओं और कार्यकर्ताओं ने स्वाधीनता आंदोलन के लम्बे संघर्ष की गौरवशाली विरासत को खारिज करते हुए नारा दिया था- देश की जनता भूखी है, यह आजादी झूठी है। उनकी क्रांतिकारी समझ के मुताबिक उस समय हिन्दुस्तान की मेहनतकश जनता लाल किले पर तिरंगे झंडे के बजाय लाल निशान देखना चाह रही थी। यह दीगर बात है कि १९४८-५१ के बीच तेलंगाना के सशस्त्र विद्रोह के माध्यम से स्वाधीन भारत की पहली सरकार का तख्ता पलटने का ख्वाब खुद देखने और देश की जनता को भी दिखाने वाले बहुत सारे उग्र वामपंथियों के वारिस लाल किले पर लाल निशान का ख्वाब देखना भूल कर दुनिया के सर्वाधिक शक्तिशाली साम्राज्यवादी देश संयुक्त राज्य अमरीका में हरा कार्ड हासिल करने की जोड़-तोड़ में लग गए। उल्लेखनीय है कि उस समय तत्कालीन सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं का किसी भी तरह का राजनीतिक या नैतिक समर्थन कम्युनिस्ट पार्टी के तत्कालीन उग्र वामपंथियों को नहीं मिला क्योंकि सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी नए स्वाधीन हुए मुल्क की आजादी को झूठा मानने के लिए तैयार नहीं थी और न देश की जनता ही। १९५१-५२ के पहले संसदीय आम निर्वाचन में देश की जनता ने स्वाधीनता आंदोलन की अगली कतार की सबसे बड़ी राजनीतिक पार्टी और उसके नेताओं में अपना विश्वास व्यक्त किया और इसके साथ ही सशस्त्र क्रांति की रूमानी दुस्साहसिकता का मार्ग छोड़ कर संसदीय राजनीति में भागीदारी करने का फैसला करने वाली भारत की कम्युनिस्ट पार्टी को कांग्रेस के बाद लोकसभा की दूसरी सबसे बड़ी पार्टी के रूप में जिता कर यह संदेश भी दिया कि भारत की बहुलतावादी सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में कम्युनिस्ट विचारधारा के लिए भी पर्याप्त जगह है बशर्ते वह शांतिपूर्ण लोकतांत्रिक तरीके से जनता की उम्मीदों और उमंगों के अनुरूप आचरण करे।

यही नहीं, १९५७ के दूसरे आम चुनाव में केरल की विधानसभा में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी

को सरकार बनाने लायक बहुमत प्रदान कर वहाँ की जनता ने जहाँ एक ओर सशस्त्र क्रांति की संभावनाओं को खारिज कर दिया वहीं दूसरी ओर दुनिया भर की कम्युनिस्ट पार्टियों तथा भारत के उग्र वामपंथियों को भी यह संदेश दिया कि एक लोकतांत्रिक प्रणाली में वयस्क मताधिकार पर आधारित संसदीय रास्ते से राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने का विकल्प मध्यमार्गीय बुर्जुआ राजनीतिक दलों के लिए ही नहीं कम्युनिस्ट पार्टियों के लिए भी समान रूप से उपलब्ध है।

कार्ल मार्क्स की पुस्तक 'क्लास स्ट्रगल इन फ्रांस' की भूमिका में एंगेल्स ने लिखा था कि जर्मनी के मजदूरों द्वारा जर्मनी में १८६६ में शुरू की गई सार्वभौम मताधिकार की व्यवस्था का बुद्धिमत्तापूर्ण उपयोग करने से वहां के कम्युनिस्टों को बड़ी कामयाबी हासिल हुई है। चुनाव में मिले वोटों से कम्युनिस्टों को जहां एक ओर न केवल खुद अपनी बल्कि अपने विरोधी राजनीतिक दलों की ताकत को भी जानने और समझने का मौका मिला वहीं दूसरी ओर चुनाव प्रचार के माध्यम से जनता के समक्ष अपनी विचारधारा और कार्यक्रम प्रस्तुत करने और इस तरह जनता के सीधे सम्पर्क में आने का भी अवसर मिला है। इससे वे कम्युनिस्ट विचारधारा और कार्यक्रम के विरुद्ध चलाए जा रहे प्रचार अभियान का जवाब देने और संसद (रीश्टाग) के मंच के माध्यम से सार्वदेशिक स्तर पर जनता के बहुत व्यापक हिस्से के साथ कहीं ज्यादा प्रभावी ढंग से संवाद स्थापित कर सके।

लेनिन ने १९२० में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'लेट विंग कम्युनिज्म : ऐन इनफैंटाइल डिसआर्डर' में बुर्जुआ संसद और संविधान सभा में कम्युनिस्टों की भागीदारी को क्रांति की दिशा में एक जरूरी कदम बताया है। उन्होंने कहा कि संसदों में भागीदारी को नकार कर या संसदीय अवसरवाद को गालियाँ देकर अपने क्रांतिकारी तेवर दिखाना बहुत आसान है मगर इससे कठिन समस्या का समाधान नहीं हो जाता। संसदीय प्रणाली में भागीदारी की आलोचना करने और संसदीय प्रणाली को ही खारिज करने वाले जर्मनी के उग्र वामपंथियों को संबोधित करते हुए लेनिन ने कहा था कि यदि कम्युनिस्ट संसद के बाहर ही रहेंगे तो वे बुर्जुआ वर्ग की धोखाधड़ी के शिकार पिछड़े जनसमूहों को संसद के वास्तविक चरित्र के बारे में कैसे समझा सकेंगे और संसदीय राजनीति में हिस्सा लेने वाले अन्य राजनीतिक दलों के चरित्र और व्यवहार का पर्दाफाश कैसे कर सकेंगे?

लेनिन ने १९१७ में रूस में संविधान सभा के चुनाव में बोल्शेविकों के भाग लेने का भी समर्थन किया था क्योंकि उनकी समझ से संविधान सभा के चुनाव में भागीदारी से सर्वहारा वर्ग के लिए राजनीतिक सत्ता पर कब्जा कर पाना आसान हो गया था।

सिर्फ इतना ही नहीं, दो अगस्त १९२० को कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की दूसरी कांग्रेस में संसदवाद पर भाषण देते हुए लेनिन ने संसदीय संघर्ष में हिस्सा लेने को समय की बर्बादी बताने और बुर्जुआ संसदों के चुनाव का बहिष्कार करने की सभी दलीलों-अपीलों को खारिज कर दिया था क्योंकि उनका मानना था कि संसद के अलावा कोई भी दूसरी संस्था ऐसी नहीं है जिसमें सभी वर्गों के लोगों की दिलचस्पी हो। लेनिन संसद को वर्ग-संघर्ष का एक मंच मानते थे।

हालाँकि अपनी किताब 'स्टेट ऐंड रिवोल्यूशन' में लेनिन ने उन तत्त्वों की भी कड़ी आलोचना की है जो संसदीय जड़ता का शिकार हो कर केवल संसदीय संघर्ष को ही क्रांति का एकमात्र रास्ता समझ कर संसद के बाहर संघर्ष और आंदोलन की उपेक्षा करने लगते हैं। परन्तु लेनिन ने एकबार भी बुर्जुआ संसदों का बहिष्कार करने की दलीलों को स्वीकार नहीं किया।

'लेट विंग कम्युनिज्म' को बचकाना मर्ज बताते हुए लेनिन ने इस बात पर जोर दिया था कि जनता के विभिन्न तबकों के बीच क्रांतिकारी मनस्थिति के विकास के बगैर कोई भी गतिविधि कभी भी सफल क्रांतिकारी कर्म के रूप में सामने नहीं आ सकती। लेनिन की इस समझ के ठीक विपरीत कम्युनिस्ट पार्टी आफ इण्डिया (माओवादी) ने २००९ के लोकसभा चुनाव के पहले पर्चा बांट कर

लोगों से चुनाव का बहिष्कार करने की अपील करते हुए कहा था कि संसदीय जनवाद मार्क्सवादियों के लिए एक छलावा मात्र है।

निचले स्तर के सरकारी कर्मचारियों के विरुद्ध विवेकशून्य हिंसक गतिविधियों को ही क्रांतिकारी कर्म समझने वाले माओवादियों ने समाज के विभिन्न मेहनतकश तबकों के बीच वर्गीय चेतना का विकास करने के लिए जनसंगठनों के गठन की कोई जरूरत कभी महसूस नहीं की।

उग्र वामपंथ के उभार का एक पड़ाव साठ के दशक में नक्सलबाड़ी सशस्त्र किसान विद्रोह के रूप में सामने आया था। तब सीपीआई(एम) से अलग हो कर सीपीआई(एमएल) का मई १९६९ में गठन करने वाले कनु सान्याल या चारु माजूमदार जैसे नेताओं ने उन दिनों भारतीय राज्य का वर्गीय विश्लेषण करते हुए सैद्धांतिक रूप से प्रतिपादित किया था कि भारत का शासक वर्ग दलाल (कम्प्रेडोर) पूंजीपति वर्ग है जिसका अपना कोई भी स्वदेशी आर्थिक आधार नहीं है और जो केवल कच्चे माल का निर्यात और कारखाने में बनी वस्तुओं का आयात करने का काम करता है। ऐसा पूंजीपति वर्ग साम्राज्यवादी शक्तियों की कठपुतली की तरह काम करता है और देश के भीतर कोई भी ठोस सामाजिक-आर्थिक आधार न होने के कारण वह बहुत ही कमजोर है और इसीलिए ऐसे बिचौलिया बुर्जुआ वर्ग के नेतृत्व वाली राजव्यवस्था को सशस्त्र संघर्ष द्वारा बड़ी आसानी से उखाड़ फेंका जा सकता है।

नक्सलवाद के उभार के इस दौर के अति वामपंथी कम्युनिस्टों ने १९४० के दशक के चीनी क्रांति के प्रयोग को भारतीय परिस्थितियों में जस का तस लागू करने का ख्वाब देखा था। '७० के दशक को राष्ट्रीय मुक्ति का दशक बनाने की घोषणा के साथ तत्कालीन नक्सलवादी लड़ाकों ने, जिनमें निस्संदेह उस दौर के एक से बढ़ कर एक प्रतिभाशाली, आदर्शवादी नौजवान भी शामिल थे, '५० के दशक के अतिवामपंथियों की तरह ही भारतीय राष्ट्रराज्य के वर्ग चरित्र का विश्लेषण करने में ही गलती नहीं की बल्कि कई कदम आगे बढ़ कर चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के चेयरमैन माओ को अपना चेयरमैन बता कर चीनी समाज के तत्कालीन संदर्भों में की गई उनकी व्याख्याओं और कही गई सूक्तियों को भारतीय संदर्भों में बिना किसी कतरब्योंत के लागू करने की रूमानी दुस्साहसिकता का भी प्रदर्शन किया।

सांस्कृतिक क्रांति के दौर की अराजकता से गुजरती हुई चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने उन दिनों भारत की अतिवादी वाम शक्तियों की जम कर पीठ थपथपाई और पार्टी के आधिकारिक मुखपृष्ठ 'पीपुल्स डेली' में सशस्त्र संघर्ष को ही भारत में क्रांति के लिए एकमात्र सही रास्ता करार दिया। ये बात और है कि कुछ ही वर्षों बाद चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने सीपीआई (एमएल) के नेताओं को पत्र लिखकर उनकी रणनीति को तत्कालीन परिस्थितियों में गलत बताया।

'७० के दशक में उग्र वामपंथियों द्वारा शुरू की गई सशस्त्र क्रांति भारतीय राज्य के सशस्त्र बलों की हिंसा का मुकाबला नहीं कर सकी। नक्सलवादियों के विरुद्ध बर्बर सैन्य अभियान चला कर भारतीय राज्य ने पश्चिम बंगाल और आंध्र प्रदेश में उग्र वामपंथियों को भूमिगत होने के लिए विवश कर दिया और भूमिगत होकर अपनी हिंसात्मक गतिविधियों को अंजाम देने वाले उग्र वामपंथ के हिरावल दस्ते किसानों, भूमिहीन खेत मजदूरों या कल-कारखानों में काम करने वाले शहरी मजदूरों को अपनी हिंसात्मक गतिविधियों का औचित्य तथा अपनी सैद्धांतिक विचारधारा और कार्यक्रम समझा पाने और उन्हें अपने साथ लामबंद कर पाने में सफल नहीं हो सके। उनके द्वारा किसानों-मजदूरों के नाम पर देश के 'कम्प्रैडोर' शासक वर्ग का तख्ता पलटने के लिए की गई हथियारबंद गतिविधियां देश के तत्कालीन आर्थिक-राजनीतिक परिदृश्य में न तो कोई गुणात्मक बदलाव लाने में कामयाब हुईं और न ही शहरी मध्य वर्ग के बुद्धिजीवी समूहों के बाहर जनता के

व्यापक हिस्सों में कोई बड़ी हलचल ही पैदा कर सकीं। भूमिगत सीपीआई-एमएल कितने ही टुकड़ों में बँट कर राज्य की खुफिया एजेंसियों की घुसपैठ का आसान माध्यम बन गईं। उन दिनों सीपीआई-एमएल के विभिन्न गुट चारु मजुमदार, कनु सान्याल, नागभूषण पटनायक, टी. नागरेड्डी और सत्य नारायण सिंह सरीखे कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के नाम से पहचाने जाते थे। इनमें से किसी भी गुट की सैद्धांतिक प्रतिबद्धता अथवा क्रांति के आदर्श के प्रति उनकी निष्ठा पर कोई सवालिया निशान नहीं लगाया जा सकता परन्तु यह जरूर कहा जा सकता है कि वे सभी क्रांतिकारी न तो भारत की तत्कालीन सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों का वस्तुनिष्ठ आकलन कर सके और न तत्कालीन राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य की उनकी समझ ही जमीनी हकीकत से मेल खा रही थी। राष्ट्रीय और वैश्विक परिदृश्य के वस्तुनिष्ठ आंकलन की जगह रूमानियत और वैयक्तिक दुस्साहसिकता को तरजीह दी गयी थी।

दरअसल '७० के दशक की आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियां बहुत ही जटिल थीं। आजादी के बाद देश के विभिन्न हिस्सों में केंद्र और राज्य सरकारों द्वारा लागू किए गए व्यापक भूमि सुधारों और जमींदारी उन्मूलन जैसे कार्यक्रमों से ग्रामीण क्षेत्रों में पारम्परिक भूस्वामियों की आर्थिक-राजनीतिक हैसियत डावाँ-डोल हो रही थी। खेती के काम से सीधे जुड़े मझोले किसानों यानि मध्य जातियों में राजनीतिक सत्ता में भागीदारी करने की महत्वाकांक्षा उभरने लगी थी जिसकी परिणति १९६७ के आम चुनाव में कई राज्यों में गैर-कांग्रेसी गठबंधनों की सरकारों के गठन के रूप में हुई। लोकसभा में भी कांग्रेस केवल कामचलाऊ बहुमत ही प्राप्त कर सकी। प्रख्यात राजनीतिशास्त्री रजनी कोठारी ने इस परिवर्तन को देश में एक दलीय आधिपत्य वाली व्यवस्था यानि कांग्रेस के एकछत्र वर्चस्व के खात्मे के रूप में परिभाषित किया। नई उभरती हुई राजनीतिक शक्तियां लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं के माध्यम से राजनीतिक सत्ता में अपनी हिस्सेदारी पाने में सफल हो रही थीं। यह राजनीतिक अस्थिरता नहीं बल्कि लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं यानि सार्वजनीय वयस्क मताधिकार के माध्यम और शांतिपूर्ण तरीके से संसदीय लोकतंत्र के भीतर सत्तारूढ़ शासक वर्ग का लोकतांत्रिक विकल्प तलाशने की एक परिपक्व लोकतांत्रिक मुहिम थी। देश के किसान-मजदूर तथा अन्य मेहनतकश तबके संसदीय लोकतंत्र के ढांचे के भीतर ही विकल्पों की तलाश कर रहे थे।

१९६७ से ७१ के बीच कांग्रेस पार्टी के विभाजन और बहुमत में बने रहने के लिए प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी की कम्युनिस्ट पार्टी आफ इण्डिया पर निर्भरता से बैंकों का राष्ट्रीयकरण, रजवाड़ों के प्रिवीपर्स का खात्मा और समाज के कमजोर तबकों के लिए कल्याणकारी आर्थिक योजनाएं लागू करने जैसे महत्वपूर्ण कदम उठाए गए। किसानों-मजदूरों-महिलाओं तथा अन्य मेहनतकश तबकों की बेहतरी के लिए लागू किए गए कार्यक्रमों से इंदिरा गांधी और उनकी सरकार की लोकप्रियता में इस हद तक बढ़ोत्तरी हुई कि गरीबी हटाओ के लोक-लुभावन नारे से पैदा हुए जनसमर्थन की लहर पर सवार होकर इंदिरा गांधी और उनकी पार्टी '७१ के लोकसभा के मध्यावधि चुनाव में भारी बहुमत पाकर दोबारा सत्ता पर काबिज हो सकीं।

जब तक संसदीय मार्ग से आर्थिक-सामाजिक परिवर्तन की संभावनाएं पूरी तरह समाप्त नहीं हो जाती तब तक किसी भी देश में वैसी परिस्थितियां नहीं बनतीं जिन्हें सशस्त्र क्रांति के लिए अनुकूल कहा जा सके। नक्सलबाड़ी की सशस्त्र क्रांति के हिरावल दस्तों ने १९६७ से ७१ के बीच की भारतीय राजनीति के घुमावदार रास्तों तथा उस दौर में देश में घटित हो रही आर्थिक गतिविधियों का आकलन कर पाने में भारी चूक की। उन दिनों देश की जनता के मेहनतकश तबके लाल किले पर लाल झंडा फहराने की तमन्ना रखने अथवा माओ को अपना मार्ग-दर्शक मानने की बजाए इंदिरा गांधी के गरीबी हटाओ के पापुलिस्ट नारे और कृषि क्षेत्र में लाई गई हरित क्रांति में भारत के किसानों

और भूमिहीनों की बेहतरी की संभावनाएं देखने लगे थे। तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियां सशस्त्र क्रांति के लिए अनुकूल नहीं थीं। १९६७ और ७३ के बीच पश्चिम एशिया में अरब देशों तथा इजरायल के बीच दो बड़ी लड़ाइयाँ लड़ी जा चुकी थीं जिनमें विश्व की दोनों महाशक्तियों अमरीका और सोवियत संघ ने परस्पर विरोधी पक्षों का समर्थन किया था। वियतनाम के मुक्ति संग्राम को कुचलने के लिए अमरीका रासायनिक और जैविक हथियारों के साथ नापाम बमों का भी प्रयोग कर रहा था जबकि सोवयत संघ का नैतिक और एक हद तक सामरिक समर्थन वियतनामी जनता और उसकी मुक्ति सेना को प्राप्त था। महाशक्तियों के बीच शीत युद्ध के इस दौर में पहले हेनरी किसिंजर और बाद में स्वयं राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन ने १९७२ में चीन की यात्राएँ कर चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ और उसकी सुरक्षा परिषद का स्थायी सदस्य बनने का मौका दिया। इन्हीं दिनों किसिंजर और निक्सन ने सोवियत संघ के साथ भी संबंधों को सामान्य बनाने की पहल की। सोवियत संघ और चीन के साथ रिश्तों को सामान्य बनाने की इस मुहिम को 'देतान्त' यानि तनाव शैथिल्य का नाम दिया गया। हालांकि अमरीका की इस मुहिम का लक्ष्य सोवियत संघ और चीन के बीच की दरार को चौड़ा कर चीन को अपने साथ जोड़ कर सोवियत संघ की घेरेबन्दी करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन में सोवियत संघ की तुलना में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी को सैद्धांतिक रूप से ज्यादा क्रांतिकारी प्रोजेक्ट करते हुए समाजवादी खेमे का वैश्विक नेतृत्व सोवियत संघ की जगह चीन को दिलाने की पृष्ठभूमि तैयार करना था। जनवादी चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने उन्हीं दिनों एक नई थीसिस प्रस्तुत की जिसका लुब्बोलुआब था कि सोवियत संघ अब समाजवादी देश नहीं रह गया है और उसे संशोधनवादी तथा सामाजिक साम्राज्यवादी देश कहा जाना चाहिए। इसका मतलब यह भी था कि दुनिया की सभी कम्युनिस्ट पार्टियों को अमरीकी साम्राज्यवाद और सोवियत संघ के सामाजिक साम्राज्यवाद के बीच दुनिया में अपने प्रभावक्षेत्रों का विस्तार करने की होड़ में सामाजिक साम्राज्यवादी सोवियत संघ को ज्यादा बड़ा खतरा मानना चाहिए क्योंकि वह अभी अपने उभार पर है जबकि अमरीकी साम्राज्यवाद चूंकि स्वयं ही ढलान पर है इसलिए उसका विरोध क्या करना।

चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की इस नई थीसिस को भारत के सभी नक्सलवादी संगठनों और महानगरों में रह रहे उनके हमदर्द क्रांतिकारी बुद्धिजीवियों ने न केवल बिना किसी गंभीर तार्किक विश्लेषण के पूरी तरह स्वीकार कर लिया बल्कि उसे अमली जामा पहनाने के लिए सोवियत संघ को सामाजिक साम्राज्यवादी और सोवियत संघ के साथ विशेष आर्थिक-सामरिक रिश्ते रखने वाली भारत की केंद्र सरकार, कांग्रेस पार्टी और संसदीय राजनीति करने वाले साम्यवादी दलों को सामाजिक साम्राज्यवाद का पिट्ठू करार देकर अपनी सारी ऊर्जा भारतीय राज्य का तख्ता पलटने की कोशिशों में झोंक दी।

हकीकत तो यह है कि भारतीय राज्य और उसका नेतृत्व करने वाला देशी पूंजीपति वर्ग न तो अमेरिकी साम्राज्यवाद का दलाल था और न तथाकथित सामाजिक साम्राज्यवाद का। राज्य की आर्थिक नीतियों ने अर्थ व्यवस्था के राज्य द्वारा निर्देशित और संचालित सार्वजनिक क्षेत्र को मजबूत करने के साथ-साथ निजी क्षेत्र के पूंजीपति औद्योगिक घरानों को भी मजबूत किया। हरित क्रांति के परिणामस्वरूप ग्रामीण क्षेत्रों में भी किसानों का एक ऐसा वर्ग सामने आया जो अपनी कृषि उपज बाजार तक पहुंचाने लगा था। कृषि उत्पादन में बढ़ोतरी के साथ अनाज के आयात की मजबूरियां समाप्त हो गई थीं। भारतीय राज्य और समाज में घटित हो रहे इन परिवर्तनों और इनके निहितार्थों का नक्सलवादी क्रांति के भाष्यकार कोई गंभीर विश्लेषण प्रस्तुत नहीं कर सके अन्यथा सामाजिक गतिशीलता और सत्ता की आर्थिक-राजनीतिक संरचनाओं के अन्तरसंबंधों की समझ रखने वाला कोई भी व्यक्ति, संगठन या दल ७० के दशक के भारत के आर्थिक-सामाजिक घटनाक्रम के परिप्रेक्ष्य

में संसदीय राजनीति की लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं को खारिज करने और हथियारबंद क्रांति का आवाहन करने जैसी गंभीर भूल नहीं करता।

सभी देशों के कम्युनिस्ट क्रांतिकारी अपने-अपने देशों की आर्थिक-राजनीतिक परिस्थितियों के वस्तुनिष्ठ आकलन के आधार पर ही क्रांति की संभावनाओं का लेखा-जोखा कर संसदीय अथवा गैर-संसदीय राह पर चलने की कार्यनीति और रणनीति तैयार करते रहे हैं। बोलीविया में चे ग्वेवारा की सशस्त्र क्रांति की विफलता के बाद लैटिन अमेरिकी देशों के साम्यवादी संगठनों ने राजसत्ता पर कब्जा करने की कार्यनीति पर नए सिरे से विचार करना जरूरी समझा। ब्राजील के राष्ट्रपति सल्वेडार डी सिल्वा लूला ने क्रांति के अपने अनुभवों के आधार पर २००८ में यह सार्वजनिक वक्तव्य दिया कि राजसत्ता पर कब्जा करने के लिए सशस्त्र संघर्ष छेड़ने का तरीका लैटिन अमरीका के समकालीन संदर्भ में अप्रासंगिक हो चुका है। इसी आशय का बयान वयस्क मताधिकार के लोकतांत्रिक तरीके से वेनेजुएला में राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने वाले राष्ट्रपति ह्यूगो शावेज ने भी दिया। संसदीय लोकतांत्रिक ढांचे में सत्ता के शिखरों पर स्थापित होने वाले इन वामपंथी राजनेताओं के अनुसार लैटिन अमरीकी देशों में अब कोई भी सत्ता परिवर्तन शांतिपूर्ण तरीके से ही संभव है और छापामार सशस्त्र युद्ध अब अतीत की बात हो चुकी है। इनमें से किसी भी राजनेता ने मार्क्सवाद और लेनिनवाद के प्रति अपनी सैद्धांतिक प्रतिबद्धता में किसी तरह का विचलन नहीं आने दिया है। चुनावी प्रक्रिया के माध्यम से ही अल सल्वेडार, निकारागुआ, उरुग्वे, चिली और बोलीविया में भी वामपंथियों को सत्ता में आने के अवसर मिले।

५० और ७० के दशक के सशस्त्र संघर्षों की विफलता से उग्र वामपंथी दलों और संगठनों ने कोई भी सीख न ली हो, ऐसा नहीं है। मार्क्सवाद और लेनिनवाद में निष्ठा रखने वाले नक्सलवादियों के कई समूहों ने ८० और ९० के दशक में पहले इण्डियन पीपुल्स फ्रंट और बाद में सीपीआई-एमएल(लिबरेशन) के नाम से संसदीय राजनीति में जब दस्तक दी तो उन्हें किसानों-आदिवासियों और शहरी मजदूरों के बीच जनाधार बढ़ाने का मौका भी मिला। इस समय भारतीय राजनीतिक परिदृश्य पर लम्बे समय से संसदीय राजनीति कर रही सीपीआई और सीपीआई-एम के साथ ही सीपीआईएमएल-लिबरेशन की भी प्रभावी उपस्थिति है। इण्डियन पीपुल्स फ्रंट और बाद में सीपीआईएमएल-लिबरेशन के उम्मीदवार बिहार विधानसभा के साथ लोकसभा में भी संसदीय रास्ते से अपनी मौजूदगी दर्ज कराने में कामयाब रहे थे।

संसदीय राजनीति में भाग लेने वाले वामपंथी दलों ने पश्चिमी बंगाल में तीन दशक से अधिक अवधि तक राजसत्ता की कमान संभाल कर भूमिहीनों को जमीनों के पट्टे देने तथा शहरी क्षेत्र के मजदूरों की बेहतरी के लिए कानूनी व्यवस्थाएं सुनिश्चित की हैं। २००९ के लोकसभा और २०११ के विधानसभा चुनावों में वामपंथियों की पराजय में सोवियत संघ के समाप्त हो जाने की परिघटना का सादृश्य ढूंढ़ने वाले विघ्नसंतोषियों को ७७ के आमचुनाव में उत्तर भारत से कांग्रेस पार्टी के सफाए और १९८० में उसके दोबारा सत्ता में आने के इतिहास को भी याद रखना चाहिए। संसदीय राजनीति में जनता ही निर्णायक भूमिका निभाती है। जनता की सक्रिय भागीदारी के बिना न कोई आंदोलन संभव है और न कोई आम हड़ताल, प्रदर्शन या रैली। जन असंतोष के कारण एक चुनाव में सत्ता में भागीदारी से वंचित रह जाने वाला दल अगले चुनाव में जनता का भारी समर्थन जुटाने के प्रति आशावान रह सकता है। भारतीय संसदीय राजनीति का अब तक का अनुभव हमें जनता की समझदारी और राजनीतिक विवेक के प्रति आश्वस्त करता है।

यहाँ यह एक और बात ध्यान में रखी जानी चाहिए कि तमाम विविधताओं के बावजूद भारत के सभी कोनों में रहने वाले भारतीयों में एक प्रवृत्ति समान है और वह है किसी भी किस्म के अतिवाद

को स्वीकार न कर पाना। बुद्ध के मध्यम मार्ग को भारतीय दर्शन, राजनीति, समाज और अर्थतंत्र को समझने के लिए एक कसौटी माना जा सकता है। दक्षिण या वाम किसी भी तरह का अतिवाद भारत में अपनी जड़ें जमाने में कामयाब नहीं हो सका है। यहां न आरएसएस, शिवसेना और विश्व हिंदू परिषद जैसे दक्षिणपंथी संगठनों के अतिवाद को मान्यता मिल पाती है और न ही सशस्त्र क्रांति के जरिये सत्ता पर कब्जा करने का दिवा स्वप्न देखने वाले उग्र वामपंथियों के अतिवाद को।

५० और ७० के दशकों में वामपंथी दुस्साहसिकता की विफलता की कड़ी के रूप में ६० के दशक के माओवादी अतिवाद की सीमाओं की भी पड़ताल की जा सकती है। हिंसा के माध्यम से राजसत्ता पर कब्जा कर सकने की रणनीति की सीमाओं के समझते हुए नक्सलवादियों के अधिकांश समूहों द्वारा संसदीय राजनीति का रास्ता अपनाने के बाद भी पीपुल्स वार ग्रुप और माओइस्ट कोआर्डिनेशन सेंटर द्वारा आपस में विलय कर २००४ में सीपीआई-माओवादी का गठन और पिछले सात-आठ वर्षों में उनके द्वारा की जा रही विवेकशून्य हिंसक गतिविधियां यही साबित करती हैं कि इस दौर के उग्र वामपंथियों को मजदूरों-किसानों, भूमिहीनों और निम्नमध्यवर्गीय तबकों की संगठित शक्ति में कोई भरोसा नहीं है और इसीलिए वे जनता का समर्थन जुटाने के बजाय आतंकवादी गतिविधियों का सहारा ले रहे हैं।

भारत में उग्र वामपंथी माओवाद एक ऐसे दौर मे सशस्त्र क्रांति की संभावनाएँ खोज रहा है जब संसदीय लोकतंत्र की जड़ें यहां की मिट्टी में गहराई तक फैल चुकी हैं और दुनिया के लगभग सभी देशों में संसदीय लोकतंत्र के पक्ष में बयार सी बह रही है। नेपाल के लगभग दो तिहाई हिस्से पर सशस्त्र अभियान के जरिये अपना प्रभाव क्षेत्र बना चुकने वाले नेपाल के माओवादी लड़ाकों द्वारा सशस्त्र छापामार युद्ध को अलविदा कह कर संसदीय राजनीति में भागीदारी करने की नजीर हमारे सामने है। नेपाली कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) के दो बड़े नेताओं पुष्पकमल दहाल प्रचण्ड और बाबूराम भट्टाराई ने बीसवीं सदी की क्रांतियों और प्रतिक्रांतियों से सबक सीखते हुए राज सेना और पार्टी के ऊपर जनता की निगरानी, हस्तक्षेप और नियंत्रण सुनिश्चित करने के साथ बहुदलीय लोकतंत्र की जरूरत को रेखांकित किया है। पहले की तरह ही इस दौर में भी भारत के उग्र वामपंथी जमीनी हकीकत का वस्तुनिष्ठ आकलन कर पाने में अक्षम साबित हुए हैं।

अंत में कुछ जरूरी मुद्दों पर ध्यान आकर्षित किया जाना जरूरी है। भारतीय राज्य, समाज और देश के पूंजीपति वर्ग का चरित्र न पहले कम्प्रेडोर था और न आज है। जो भारतीय पूंजीपति बिजली, रेलवे, विनिर्माण उद्योग जैसे बुनियादी ढाँचे के क्षेत्र में अपनी प्रभावी उपस्थिति दर्ज करा रहे हैं और जो भारतीय कारपोरेट घराने केवल अफ्रीकी और एशियाई देशों में ही नहीं बल्कि विकसित यूरोपीय देशों में भी इस्पात, पेट्रोलियम, आटोमोबाइल जैसे क्षेत्र की औद्योगिक इकाइयों का अधिग्रहण कर अन्तर्राष्ट्रीय पूंजीवाद के साथ बराबरी के स्तर पर प्रतिस्पर्धा करने लगे हैं उन्हें किसी भी मापदण्ड से अन्तर्राष्ट्रीय साम्राज्यवाद का दलाल नहीं कहा जा सकता। इसी तरह किसी भी अर्धसामन्ती राज्य में नई तकनीकें अपना कर खेती के क्षेत्र को उन्नत और लाभदायक बनाने के प्रयास नहीं किए जाते।

भारतीय राज्य व्यवस्था में अभी भी लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं के माध्यम से समाज के हाशिये पर बसे समूहों के लिए राजसत्ता पर अपनी पकड़ मजबूत बनाने तथा राज्य को जनपक्षधर आर्थिक नीतियां बनाने के लिए बाध्य कर सकने की संभावनाएँ बरकरार हैं। भारतीय राज्य पिछले कुछ वर्षों में कारपोरेट घरानों के प्रति मेहरबान और मेहनतकश तबकों की बुनियादी जरूरतों के प्रति संवेदनशून्य होता अवश्य नजर आ रहा है परन्तु भारतीय राज्य अभी भी किसी भी कसौटी पर फासीवादी नहीं है। राज्य के शासकवर्ग का जनांदोलनों के प्रति वर्तमान रवैया असहिष्णु है। लोकतंत्र

में आस्था रखने वाले सभी व्यक्तियों, संगठनों और दलों को भारतीय राज्य के चरित्र में आ रहे इस विचलन से चिंता और बेचैनी का अनुभव हो रहा है। इससे निपटने का एक ही तरीका है कि समाज के सभी तबकों के लोग सरकार की नीतियों में कार्यक्रमों में पारदर्शिता लाने और राजसत्ता की जनता के प्रति जवाबदेही सुनिश्चित करने के लिए संगठित प्रयास करे। शांतिपूर्ण तरीके से जनता के विभिन्न समूहों को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक बनाने तथा राज्य की जनविरोधी नीतियों का प्रतिरोध करने के लिए व्यापक जनांदोलन चलाए जाने चाहिए।

हिंसा बनाम अहिंसा की निर्गुण बहस के आधार पर माओवादी हिंसा की आलोचना करने का कोई औचित्य नहीं है। यदि राज्य लगातार हाशिये के समूहों को जल जंगल जमीन और आजीविका के अन्य साधनों से वंचित कर, बहुराष्ट्रीय कारपोरेट घरानों द्वारा देश की बहुमूल्य खनिज संपदा की लूट में इसी तरह सहायक (फैसीलिटेटर) की भूमिका अदा करता रहा और शांतिपूर्ण रैलियों, प्रदर्शनों और जनांदोलनों के दमन का सिलसिला जारी रहा तो यह निश्चित है कि जनता अपने को भेड़-बकरियों की तरह जिबह नहीं होने देने वाली है। संसदीय लोकतंत्र की मजबूती और कामयाबी के लिए लोक और तंत्र के बीच में बढ़ती हुई दूरी को समय रहते पाटा जाना जरूरी है।

जनजाति क्षेत्र, वामपंथी उग्रवाद और परिवर्तन

शीतला सिंह

वैसे उग्रवाद आज की राजनीति का मुद्दा बनता जा रहा है, लेकिन जब इसे विचार से जोड़ेंगे तब निश्चित रूप से यह उसके महत्व पर आधारित होगा। महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित कार्यक्रम में भी यही स्पष्ट हुआ कि उन कारणों की खोज क्यों न की जाय जिससे यह वामपंथ का मुद्दा बन गया और इस रूप में सबसे पहले तो उस क्षेत्र के बारे में विचार करना होगा जहां यह पुष्पित, पल्लवित हो रहा है। इस प्रकार यह मूल रूप से आदिवासी क्षेत्रों से जुड़ा हुआ है। कारणों की खोज की जायेगी तो उनकी तह में स्थानीय समस्याएं, भूख, गरीबी, अभाव, पिछड़ापन और इनसे मुक्ति की अपेक्षा स्वाभाविक है क्योंकि अब संचार तथा परिवहन सुविधाओं के कारण दुनिया निकट होती जा रही है, लोग एक दूसरे से परिचित भी हो रहे हैं और उनसे प्रभावित भी। इस रूप में भी उन लोगों का प्रभाव खासतौर से पड़ रहा है जो यहां आते-जाते हैं, रहते, बसते हैं, उद्यम व्यवसाय करते हैं, उनके प्राकृतिक साधनों का जिन पर आदिवासियों का लम्बी अवधि से वर्चस्व था, उपयोग भी करते हैं। इन सबमें जो शोषण और उत्पीड़न छिपा हुआ है उससे भी इन क्षेत्रों के निवासी प्रभावित और त्रस्त होते हैं। इसके पीछे एक कारण और भी है कि 'पत्ता भी हिलता नहीं बिना कृपा जगदीश' या 'जवन करैं सो हरि करैं होय कबीर-कबीर' की भावना भी परिवर्तित हो रही है क्योंकि चेतना विस्तार के कारण परिवर्तन के पीछे के कारणों को लोग देखने और जानने लगे हैं तथा असहमति के स्वर भी जन्म लेने लगे हैं और इनसे मुक्ति की कामना भी होने लगी है। सबसे बड़ा प्रश्न तो यह है कि इस आदिम समाज के परिवर्तन के लिए उपलब्ध साधनों का किस प्रकार न्यायोचित प्रयोग हो, जिससे यह भी उसमें हिस्सेदार हों और जो उनकी जिंदगी को बदलने में सहायक हो। इस रूप में वहां सबसे अधिक प्राकृतिक साधन 'वन सम्पदा के रूप में हैं या खनिजों के रूप में जिनका वे अब तक वांछित प्रयोग किया करते थे। यह उनके जीवन के साथी बन गये थे, इसमें दखल देने वाली शक्तियां भी नहीं थीं। उन्हें लगता था कि यही उनके जीवन का आधार है इसमें परिवर्तन कर हम उपभोग करते रहेंगे, लेकिन जब भू-तत्त्वों, खनिज पदार्थों की खोज में बाहर के लोग गये तो इनकी हैसियत उनके सहायक मजदूर की ही हो गयी। यह स्थिति सरकारी

नीतियों के कारण बनी। जो इन सीधे-सादे, भोले-भाले लोगों के बीच में गये वह उनके सांस्कृतिक परिवर्तन का भी कारण बने, क्योंकि उनकी दिलचस्पी इनकी श्रमशक्ति का उपयोग करने के साथ ही इनके जीवन के उपलब्ध साधनों में भी दखल देने में हो गयी। इनका प्रवेश उनकी वैयक्तिक जिन्दगी में भी हुआ क्योंकि वे इन्हें अपने सुख और लाभ के लिए दास बनाकर भरपूर उपयोग करने लगे। इनके पास जो खुला प्राकृतिक जीवन, ईमानदारी और मेहनत थी उनके सम्मान के बजाय वे इनका अपनी आवश्यकता के अनुसार उपयोग करने लगे। इसी के साथ ही उस समाज से कुछ लोगों को तोड़कर अपना कारिंदा और एजेंट बनाया। वे इनके इस कार्य में सहायक बन गये। इसका थोड़ा लाभ उन्हें भी मिला। उनकी जिंदगी भोजन, वस्त्र और रहन-सहन में थोड़ा परिवर्तन दिखा जिसका प्रभाव अन्य लोगों पर भी पड़ा। इसी के साथ ही आदिवासी क्षेत्रों के उपयोग के लिए आवागमन के साधन और रास्ते बढ़े क्योंकि उनके बगैर इस क्षेत्र की सम्पदा को बाहर ले जाकर बाजार में अपनी दरों पर नहीं बेचा जा सकता था। इसलिए वहां उत्पन्न होने वाली वस्तुएं जिन्हें वे पहले नमक के बदलाव के आधार पर खरीदते थे अब उसमें पैसे का समावेश हो गया था। आवश्यकतानुसार जन्मी प्रतिस्पर्धा ने उत्पादकों और स्वामियों को लाभ भी पहुंचाया लेकिन तब तक मूल निवासियों की भूमिका और जीवन दोनों ही बहुत बदल नहीं पाया था। सरकार ने इन क्षेत्रों के विकास के लिए सरकारी योजनाएं भी बनायीं और उनके कार्यान्वयन के लिए बाहर से समर्थ लोग भी गये। शिक्षा के लिए थोड़े से विद्यालय भी खुले। यह बात दूसरी थी कि वह बड़े पैमाने पर छात्रों को आकर्षित नहीं कर सके क्योंकि बच्चे अपना पेट भरने के लिए अर्जन का काम भी करते थे और मां-बाप भी यह मानते थे कि जो बच्चा इस संसार मे आया है उसके पास मुँह तो एक ही है लेकिन हाथ दो हैं। इन दोनों हाथों से कमाकर वह अपना पेट भरेगा और अपने मां-बाप के लिए भी सहायक बन जायेगा। इसी के साथ ही आदिवासी क्षेत्रों में कुछ केन्द्रीय और राज्य की बड़ी योजनाएं भी पहुँची, साधनों का भी विस्तार हुआ, आवागमन के लिए सड़कें बनीं और जो इन कारखानों में कार्यरत थे उनकी आवश्यकताओं के लिए बाजार भी विकसित हुए। लेकिन क्षेत्र के लोगों को कोई बड़ा लाभ नहीं पहुँचा क्योंकि वे अकुशल श्रम के अतिरिक्त दूसरे कार्य नहीं कर सकते थे। कुशल श्रमिक बाहर से जाते थे। इसलिए वृत्ति, व्यवसाय, आजीविका प्रबंधन और तकनीक का काम करने वाले लोग बाहर से गये। इससे क्षेत्रवासियों की समस्याएं तो बहुत नहीं सुधरी बल्कि शोषण तेज हो गया। इसी के साथ ही यह भी परिवर्तन दिखा कि जंगल जिसे वे अपना मानते थे और अपनी आवश्यकतानुसार उसका उपयोग करते थे उनका स्वामी सरकार का वन विभाग बन गया। उनकी आजादी पर पाबन्दी लग गयी। सदियों से जिसे वे अपना मानते थे वह उनसे छिन गयी। खनिज और प्राकृतिक वस्तुओं पर से भी उनका नियंत्रण हटने लगा। ठेकेदार नये स्वामी के रूप में उभरे। कुल मिलाकर यह क्षेत्रीय विकास उनके लाभ का कारण नहीं बन पाया।

राजनीतिक आरक्षण के फलस्वरूप अब इनके प्रतिनिधि भी स्थानीय निकायों से लेकर संसद और विधान मंडलों तक पहुंचने लगे, लेकिन आमतौर से मूल्यांकन के नतीजे यही बताते हैं कि वे दिल्ली और राजधानियों से लौटकर इस क्षेत्र और आदिम जातियों के कोई बड़े सहायक नहीं बन पाये। उल्टा इन संस्थाओं में पहुंचने के लिए राजनीति का भी समावेश हुआ और यह कटुताएँ और भेद तो अवश्य लायीं लेकिन बदलाव का बड़ा कारक नहीं बन पायी। एक चीज यह भी देखने में आयी कि इन क्षेत्रों में जो सरकारी वर्चस्व बढ़ रहा था और जो साधन आदिवासियों के बजाय सरकारी कर्मचारियों के हाथ में केन्द्रित होते जा रहे थे उनको अपनाने और लाभ उठाने का प्रयत्न अवश्य आरम्भ हो गया। क्षेत्रीय नेताओं की उसमें भी भागीदारी बढ़ी। क्षेत्रीय विकास के लिए जो साधन आ रहे थे उनमें इनकी भूमिका प्रमुख और निर्णायक बनने लगी। जनप्रतिनिधियों पर यह

आरोप लगने लगा कि वे सामुदायिक हितों के बजाय वैयक्तिक और पारिवारिक हितों के प्रति अधिक समर्पित हो रहे हैं। इसलिए यदि इसे स्थानीय नेतृत्व की संज्ञा दें तो इनकी हैसियत तो बदली लेकिन कुछ थोड़े से जनप्रतिनिधि ऐसे भी थे जो इस क्षेत्र और अपने साथियों के लिए समर्पित थे, वे अकेले पड़ते गये। इसी के साथ ही उन क्षेत्रों के प्रतिनिधियों ने सरकार को बनाने चलाने और समर्थन देने के लिए अपनी भूमिका की कीमत भी वसूलना आरम्भ कर दिया क्योंकि उन्हें बड़े नगरों और इन केन्द्रों पर जाकर पता लगा कि बाकी लोग भी इस कार्य में पीछे नहीं हैं। उन्हें भी उनका अनुसरण करना चाहिए। यही कारण था कि भारत जैसे लोकतांत्रिक देश के प्रधानमंत्री को घूस देकर समर्थन जुटाने के लिए भ्रष्टाचार के आरोप में तीन वर्ष की सजा मिली। लेकिन जिन लोगों ने इसका लाभ उठाया था उनमें से इन क्षेत्रों का नेतृ वर्ग भी था। इसी प्रकार जब छत्तीसगढ़ और झारखंड जैसे आदिवासी बहुल राज्यों का निर्माण हुआ तब उसके साधन और अधिकारों को अपना बनाने के संघर्ष में आदिवासी नेतृत्व के एक बड़े नव सम्पन्न वर्ग ने अपनी भूमिका निभानी आरम्भ कर दी। स्थानीय नेतृत्व जो समस्याओं को भी जानता है और परिवर्तन की कामनाओं से भी वाकिफ है, वह ऐसा नहीं बन पाया जो पूरे क्षेत्र के विश्वास का कारण बने। बाहरी ठेकेदारों, माफियाओं और गुण्डों का भी प्रवेश हुआ जिससे यहां की राजनीति में अपराधों का समावेश हुआ। पहले तो यह माना जाता था कि आदिवासी क्षेत्र अपराध मुक्त और यहां के लोग सरल जीवन बिताने वाले होते हैं। लेकिन उन्हें भी कलुषित करने का प्रयास आरम्भ हो गया है। इस प्रकार इस क्षेत्र की प्राकृतिक सम्पदा धीरे-धीरे उनके हाथ से खिसकने लगी जिसका प्रभाव उनके जीवन पर भी पड़ा और नेतृत्व जो सरकारी साधनों और अधिकारों तथा विभिन्न योजनाओं का लाभ उठाने में अग्रणी भूमिका निभा रहा था वह भी इनका उपयोग करने लगा। जिन्हें हम वामपंथी सम्बोधित कर रहे हैं वे अपना नाम चाहे नक्सलवादी रखें या माओवादी, सुधारवादी या परिवर्तन की सकल कामना को अमली रूप में लाने का दावा करने वाले, उनका भी समावेश हुआ। उन्होंने इन आदिवासियों की समस्याओं को जानकर उनमें चेतना विस्तार के साथ ही उन्हें संगठित करने का प्रयास किया जिससे सबसे अधिक प्रभावित वे लोग हुए जो इनका अनुचित लाभ उठा रहे थे। ठेकेदार, माफिया, सरकारी कर्मचारी और अधिकारियों के लिए अब यह वर्ग आयर शायर तथा उनकी सुविधाओं को जुटाने वाला नहीं बल्कि वह अपना हक भी मांगने लगा। घूस, बेईमानी, दगाबाजी और शोषण के खिलाफ भी आवाज उठने लगी। इसलिए सरकारी तौर पर यह बाहर से आये लोग घोषित शत्रु बन गये और पहला लक्ष्य यही हुआ कि इन्हें कैसे यहां से बेदखल किया जाय।

राजनीतिक प्रयास और दर्शन सत्ता पर अधिकार करने के लिए ही होते हैं। सेवा तो साध्य नहीं साधन है, लेकिन जहां तक ''सत्ता बन्दूक की गोली से निकलती है'' इस सिद्धान्त का प्रश्न है देखना यह पड़ेगा कि संघर्ष किनसे, किन परिस्थितियों में कहां हो रहा है और जहां यह प्रयोग हो रहा है क्या वहां दूसरे अन्य विकल्प विद्यमान हैं? मार्क्सवाद न अपने को शाश्वत और अन्तिम बताता है न उसमें आवश्यकतानुसार परिस्थितिजन्य परिवर्तनों को ही नकारता है। इसी प्रकार लोकतंत्र भी जिसे फिलहाल दुनिया भर में वर्तमान स्थितियों में बड़ा संगत माना जा रहा है वह भी सभी दोषों से मुक्त नहीं है। स्वयं भारत में भी लोकतंत्र के लिए जो जनप्रतिनिधित्व कानून बना है उसमें कई कमजोरियां विद्यमान हैं जिसके फलस्वरूप चुनावों में धन निर्णायक बनता जा रहा है। हालाँकि चुनावों में अधिकतम खर्च की सीमा निर्धारित है लेकिन पार्टी और मित्रों द्वारा खर्च की छूट उसे इस प्रतिबन्ध से मुक्ति दिला देता है। जाति, धर्म, सम्प्रदाय, भाषा क्योंकि अभी समाज के जीवन में सक्रिय रूप से विद्यमान हैं इनका भी लाभ उठाने की प्रवृत्ति अभी नहीं रुक पायी है। सबसे बड़ा दोष तो यह है कि चुनाव प्रक्रिया में वही विजयी मान लिया जाता है जिसे दूसरे प्रतिस्पर्धियों की अपेक्षा अधिक मत मिले

हों। इसका अनिवार्य मतदान और जीत के लिए एकल संक्रमणीय चुनाव पद्धति द्वारा हल निकाला जा सकता था। किसी उम्मीदवार को जब तक आधे से अधिक मतदाताओं का विश्वास न प्राप्त हो जाय तक तक निर्वाचित न घोषित किया जा सके। परिणाम स्वरूप अभी तक तो ऐसी कोई भी पार्टी केन्द्र की सत्ता में आयी ही नहीं जिसे देश की सकल जनसंख्या का दस प्रतिशत का भी समर्थन प्राप्त रहा हो, लेकिन वे आधे-अधूरे विभाजित वोट पाकर भी अपने को जनाधिकार प्राप्त नायक बताते हैं। फिर भी चुनाव प्रक्रिया विद्यमान है। जहां तक सत्ता बन्दूक की नली से निकलने की बात है तो यह बन्दूक किनके हाथों में है उनकी रीति, नीति, दिशा सोच और भविष्य के प्रति चिंतन भी तो कार्य करेगा और इसका एक प्रभाव यह भी पड़ेगा कि बन्दूक के बल पर जो सत्ताएं अस्तित्व में आयीं उनमें सैनिक शासन और डिक्टेटरशिप भी तो है। क्या हम इसे इसलिए ग्राह्य मान सकते हैं कि वह बन्दूक की नली से निकली है? इसलिए व्यवस्था कोई भी हो मानवाधिकार और चिंतन प्रक्रिया इन दोनों से उसे मुक्त नहीं किया जाना चाहिए। इसलिए सत्ता के खिलाफ असहमति और उससे जन्मा विरोध तो लोकतंत्र का गुण माना जायेगा लेकिन इसकी सीमाएं भी निर्धारित करनी पड़ेंगी और अनुचित प्रयोग पर प्रतिबन्ध भी। माना यही जाता है कि राजनीतिक दल विभिन्न वर्गों के स्वार्थो की सोच पर आधारित होते हैं लेकिन भारत जैसे देश में जहां विभिन्न वर्ग विद्यमान हों क्या वहां किसी को हथियारों के बल पर निर्णायक युद्ध का अवसर मिलना चाहिए। फिर इनके परिणामों पर भी तो विचार करना पड़ेगा। आदिवासी क्षेत्रों के अकिंचन लोगों की शक्ति का उपयोग लोक चेतना में विस्तार करके उन्हें अपने हकों के लिए खड़ा किया जा सकता है। लेकिन यहां ऐसे वर्ग भी राजनीति में हैं जो इस लोक चेतना के विरोधी हैं क्योंकि यह उनके स्वार्थों को हानि पहुंचाती है। इसलिए वे सत्ता का उपयोग तानाशाही ढंग से संवैधानिक मान्यताओं के विपरीत करना चाहते हैं इसमें बड़ी सहायक जिसे हम कार्यपालिका और सुरक्षाबल कहते हैं वे हो जाते हैं क्योंकि मूल्यांकन के आधार पर अभी सबसे अधिक वे उन्हीं वर्गों से आते हैं जो अब तक कमजोर और पीड़ितों का अनुचित लाभ उठाते रहे हैं। इनकी कार्य संस्कृति भी ऐसी है कि वे दलित और कमजोर वर्ग के प्रतिनिधियों को सबसे पहले भ्रष्टाचार में सहयोगी बनाने का ही प्रयास करते हैं। कुल मिलाकर मुद्दों के लिए जागरूकता और उग्रता आवश्यक है लेकिन यह असीमित नहीं होगा।

कुछ आदिवासियों के संगठन बने उसमें शस्त्रों के समावेश का भी आरोप लगा। क्योंकि अन्याय की लड़ाई में वे इसके बिना अप्रभावी रहेंगे ऐसा बताया गया। लेकिन अस्त्र-शस्त्र और संहारक शक्ति सदैव राज्य के पास ही सर्वाधिक होती है। यह राज्यशक्ति और उसका प्रयोग करने वाली नौकरशाही तथा सुरक्षाबलों को एक मौका मिला कि हथियारों के दिखने पर आदिवासी को आतंकवादी बताना आरम्भ कर दिया। इसलिए उन्हें सबक सिखाया जाना चाहिए। इस प्रकार इनके खिलाफ सशस्त्र हमले भी आरम्भ हो गये जिनका औचित्य ठहराने के लिए मात्र इतना बताना ही काफी हो गया कि वह तो नक्सल प्रभावित और उसका समर्थक था। इसका आकलन तो इस आधार पर भी हो सकता है कि जब छत्तीसगढ़ के एक सामाजिक कार्यकर्ता जो यह घोषणा करते हैं कि वे किसी राजनीतिक दल के सदस्य नहीं हैं, उन्हें गिरफ्तार करके नक्सली साहित्य रखने तथा आदान-प्रदान करने के आरोप में आजीवन कारावास की सजा मिली और उच्च न्यायालय तक जमानत नहीं मिली। जब सर्वोच्च न्यायालय में यह सवाल उठा तब न्यायाधीशों ने कहा कि जैसे गांधी दर्शन रखने से किसी को गांधीवादी नहीं कहा जा सकता उसी प्रकार कोई साहित्य देशद्रोह का कारण नहीं बन सकता। इसके लिए तो साक्ष्य कानून के तहत सबूत चाहिए। किसी व्यक्ति की पुलिस द्वारा मुठभेड़ के नाम पर हत्या करने के लिए उसके पास से एक पर्चा बरामद दिखाना पर्याप्त है। लेकिन जब स्वार्थों के संघर्ष से चेतना का विस्तार होता है और इस क्षेत्र में भी वह बढ़ने लगा तो केन्द्रीय

गृहमंत्री तक को लगा कि इस आन्तरिक समस्या के लिए तो सेना का प्रयोग भी अनुचित नहीं है क्योंकि राज्य की शक्ति ही सारी समस्याओं का निदान है। लेकिन जब राज्य नामक संस्था को लोगों ने बनाया और स्वीकार किया था तो उसके पीछे मूल भावना यही थी कि वह हम लोगों की सुरक्षा करेगी और अन्याय से मुक्ति दिलायेगी। राज्य जनता के लिए होता है, जनता राज्य के लिए नहीं। इसीलिए तो माना गया है कि लोकतंत्र में राज्य और सरकार दो अलग-अलग तत्व हैं। राज्य स्थाई भाव वाला है और सरकारें परिवर्तनशील और इन्हें बदलने की इच्छा, कामना जनता के पास है। यह तभी तक रहेगी जब तक जनता का उन पर विश्वास है। इस प्रकार सरकार के खिलाफ आन्दोलन कभी राजद्रोह नहीं हो सकता। हाँ जो राज्य द्वारा निर्धारित व्यवस्था के विपरीत आचरण करे उसे भी दण्ड देने का अधिकार राज्य की न्यायपालिका नामक अंग के पास है क्योंकि माना यही जाता है कि कार्यपालिका, न्यायपालिका और विधायिका यह तीनों ही राज्य के अंग हैं इससे परे कोई अस्तित्व नहीं हैं। इस प्रकार वामपंथ की सबसे बड़ी समस्या यह है कि वह कई खेमों में विभाजित है। सहमतियां कम असहमतियां अधिक हैं जिसका परिणाम यह है कि वह अपने विरोधी विचार रखने वालों को स्वीकार नहीं कर पाता। जहां तक मुद्दों का प्रश्न है, वे तो जीवन्त हैं, उनका समाधान भी ढूंढना पड़ेगा क्योंकि उसे ढूंढे बगैर इस क्षेत्र का विकास नहीं हो सकता। हमने संविधान में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता प्रतिष्ठा के साथ अवसर की समता प्राप्त करने के लिए व्यक्ति की गरिमा सुनिश्चित करने वाली बन्धुता को स्वीकार किया है। इसी के साथ ही संविधान के निर्देशात्मक सिद्धान्तों में भी लोक कल्याण की अभिवृद्धि के साथ ही अनुसरणीय नीतियों को भी स्वीकार किया है। अनुसूचित जातियों, जनजातियों और अन्य निर्बलों की आरक्षण सहित शिक्षा और अर्थ-सम्बन्धी हितों की अभिवृद्धि का भी निश्चय किया है। साथ ही सामाजिक अन्याय और सभी प्रकार के शोषण से संरक्षा की गारंटी भी दी है। इसलिए इस क्षेत्र के मुद्दों को राजनीतिक विचारों के आधार पर कम बल्कि संवैधानिक मर्यादाओं की दृष्टि से ही देखना होगा। दुख का विषय है कि हम स्वतंत्रता की प्राप्ति के तिरसठ वर्ष बाद भी इन क्षेत्रों की स्थिति बदलने के लिए उन नीतियों को लागू नहीं कर पाये जिससे हम इनका जीवन बदल कर मानवीय आवश्यकताओं के न्यूनतम आधार पर भी नहीं ला सके। लेकिन इसका इलाज उग्र मुद्दों के नाम पर आदिवासियों का संहार नहीं बल्कि उनकी दशा में परिवर्तन ही है।

विजेंद्र

हरित पथ

हरित पथ मुझे याद है
जौ-गेंहूँ उगे खेतों की पगडण्डियों से
हर शाम गुज़रना
पहाड़ियों के अगल-बगल वन घासों के फूलों का झूमना
याद है मुझे
सूखी चट्टानें
यहाँ फुदकते झरने कहाँ हैं
अंदर भी ऐसा ही उजाड़ है
दूरियाँ बढ़ती आँखों को दिखाई नहीं देतीं
जैसे पेड़ की दीमक खाई जड़ें
एक-दूजे के पास से अनजान गुज़रना
गेहूँ के युवा खेत महावट चाहते हैं
वे दिखे-बे-चैन बहुत दूर तक
धूप की मंद-मंद लहरें
उन्हें तसल्ली देती हैं
पृथ्वी तुम ठहरो मत
छोटा-मझोला किसान असहाय देखता है
धुर से उठे सफेद बादलों को
इन दिनों घना कुहरा छाया रहा
बहुत देर तक धूप-कन्या सहमी-सहमी रही
चित्र बनाकर ठण्ड का सामना कैसे करूँ
ओ पृथ्वी तुम ठहरो मत
समय के दांतदार पहिये घूमने दो तेज़-तेज़
पहली-पहली धूप
धरती पर बरसते पारिजात फूल

छत पर बिखरे रजत-कण
चाहता हूँ इन्हें रोयों में भर लूँ
धरती की परतों में छिपा है मेरा अतीत
ऋतु की सलौनी देह पै खिंची पँचरंगी धारियाँ
वर्ण शुभ-रेखायें वक्र-ध्वनि खिंची है-
कत्थई गुलदाउदी के ताज़ा खिले फूलों पर
अब यहाँ से वे ढलान नहीं दिखते
जिनसे एक साथ...आगे-पीछे
भूरी, स्याह, चितकबरी, कुछ-कुछ भुक्सी भेड़ें
काला तिलक लगाये गायें
उतरती घाटियों में
मुझे उम्मीद है...तुम भी भरोसा करो
ठिठुरे-कुहरिल अशुभ दिनों के बाद
जीवन में बसंत के सुग्गे
पंख छितरायेंगे आगे तक।

आने वाला समय

वो समय अभी आयेगा, आने को है
वो पक रहा है मिश्र धातुओं के साथ
लोक की धमन भट्टियों में
वो पक रहा है फूलों के भीतर
गाढ़ा रस
शक्ल धरता असंख्य बुने जाते धागों में
तीखी तपिश में तपी किसान की पीठ
भारी-भारी पत्थरों को उठाते हाथों की मरोड़ों में
उसे बहुत करीब से देख के यहाँ लौटा हूँ
लकड़हारे के चित्त में पकता फौलाद
भव्य भवनों की खुदी नीवें
धरती के भीतर पिघली चट्टान का सुर्ख रंग
क्या तुमने लड़ती जनता की आँखों में देखा है
पत्तियों आरीनुमा दाँतों की नौकों पर
रुकी रोशनी की ताज़ा बूंदें
गिरने-गिरने को हैं
ओ कराल काल
तू उन्हें रोक सकता कुछ देर और काश
गोबर से लीपती कठोर हथेलियाँ

मेरी राष्ट्रीयता की छबि है
मछुआरों के जाल में दिन को सुना पंख फड़फड़ाते
हवा, आकाश, जल, अक्षत, अन्न
सभी शक्लों में बनता-ढलता सुंदर भविष्य
पकने से पहले का दर्द
मैं झेलता रहूँगा कब तक
फूटते अंकुरों की आभा में भी
दमकता है मेरी आत्मा का अष्टधातु
लौहसारी में पिटती सिल्लियों को सुना है
रात के अंधेरे में
सड़सी के मुँह में दहकता सुर्ख लोहा
ढाक वनी में खिला पलाश- सुर्ख, सुर्ख, सुर्ख
तुम्हारी कविताओं में भूखे आदमी की
डरावनी इच्छाओं के चित्र क्यों नहीं है
सच बचाने के लिये झूठ से लड़ना ज़रूरी है
ऐसी जगह आदमी को रहने के लिये सुरक्षित की है
जहाँ पशु भी बैठा न चाहें
पहाड़ों पर भी निशान हैं पगडण्डियों के
भावों के वास्तु-शिल्पीय-संरचनात्मक स्थापत्य रचने वाले हाथ
कितने आतुर
कितने सजग
तुम बोलो, अपनी जबान में बेखौफ बोलो
बोलने से पथरीला सन्नाटा टूटता है
गाढ़े अंधेरे में काँपती सघन परछाइयाँ पेड़ों की
लकड़हारों, बे-घर भूमिहीनों, बुनकरों .... को-
जो नहीं पा सके जगह कहीं
उन्हें कविता में जगह देनी होगी।

मरुधर वासी

मैं उसे सुनता रहा एकटक
एक भी शब्द की उजड़ी पंखड़ी को छुये बगैर
सुनता रहा धौरों का अग्नि-गति
बिना उसको जताये....सुनता रहा
मैं शब्दों के पीछे छिपी आँखों को भी थाह रहा हूँ
सूर्य अपने सात घोड़ों वाले रथ को
तेज़ हाँक रहा है

ओह...कितना ताप है सीने पै झेलने को
धरती लोहा पकाने को बे-चैन है
कैसे झेल पाते है इतनी आँच मरुधर वासी
सीना खोले ठीक दोपहरी उँट को दौड़ाते हैं
पजरते रेत में क्या समझूँगा उसकी दाह को
आँखें बता देती है
चित्त-भूमि में होते अंकुरण को
क्या रिश्ता है मेरा उस से
जो ठहरा रहा तेज़ चिलकती धूप में
वह अपनी बकरियाँ चराती रही
कँटीली...हींस झाड़ियों में
अधपकी झरबेरियों में
पास के कठा बबूलकी से काटी
काँटेदार टहनियां
यहाँ जीवन ही ऐसा है कांटों से घिरा हुआ
तपन में खिलता है रोहिड़ा सुर्ख
इतनी देर उसे देखने को
वहाँ क्यों खड़ा रहा
वह बार-बार देखा अन-देखा करती रही
यहाँ से जाने के बाद
शायद उसे कभी न देख पाऊँ
जितना वह लेना चाहती है मुझे से
रिक्त मन में उतना दे पाने को कहाँ है मेरा पास
सूखे मरु में उड़ती है तँबई रेत
ढूहों पर बनती है लहरें अशांत
जो कुछ सुना है, जाना है, चखा है
जीवन के बारे में
समझने में खुरदरी सिलवटें दिखती हैं
जो कुछ मैं भीतर न रख पाऊँगा
क्या उसे दे पाऊँगा उन्हें
जो अधीर हैं
जीने को अभावों में बे-चैन, विवश
तंगदस्त, भले, भटके
कुपोषण से ज़र्द हुये बच्चे
सूर्य की पहली किरण से ही प्रचण्डता जगती है
खुले सीने पर ही झेलते हैं यहाँ के कठा लोग
ओ समय, ओ बीज, ओ बुझी राख
बिना किसी वजह के ही उसने खींचा है मुझे

इतने पास
सांसों में नमी
उसमें छिपी ऊर्जा
रीढ़ कर दर्द मुझे ही सहना है
किसी दूसरे की देह से नहीं बुझ पायेगा
उसका ताप
जब बोया था बीज उर्वर दो-आबा में
वह एक बच्चे की ललक भर थी
सूर्य सिर के ऊपर था
अब वह उस ढलान पै ठिठका है
जहाँ से सिर्फ क्षितिज दिखता है
फसलों को छूता हुआ
वह अब बिना कुछ छिपने की जल्दी में है
काटी जा चुकीं फसलों की अन्नमयी गंध
तिरती है मंद-मंद लहरों में
इसी धरती पै पाऊंगा पके फल का उजास
सिरजे जाते मकानों के गोलाकार मेहराव
खिड़कियाँ, दरवाज़े गवाक्ष
इन सब पुष्पगंधों से भिन्न है
जीवन की अपलक गंध।

ज्ञानेन्द्रपति

रँगरेज

आस्मान की आँखों में आँखें दिये
कभी जब बैठ जाओ उसके सम्मुख
तो कितनी ही देर बीत जाती है
आँखों के उजले कोये नीलाभ होने लगते हैं
उसी तरह, जिस तरह
उत्तुंग हिमानी ऊँचाइयों को
आकाश की नीलाई
अपने रंग में रँग देती है
निकोलाई रोरिक के हिमशैल-चित्रों में
जिसकी रंगतें बिखरी पड़ी हैं
कि सहेजी हुई हैं
वही नीला रंग आस्मानी
मैदानों में, जिसके बल
नदियों को रँगने का जिम्मा
अपनी ओर से तो आकाश ने लिया ही है
यह अलग बात है कि धरती उसी के भरोसे नहीं
तब भी
धरती के रंजक हाथों से बच निकलती है नीरंग
कोई नदी
तो उसे
आकाश अचूक रँग देता है
अपना संग देता है

पहली बारिश

हम मेढकों की तरह ख़ुश हैं
हालाँकि उनके बराबर तो नहीं हो सकते
बादल बीच-बीच में नगाड़ों की तरह बजते हैं
धरती ने देह ढील दी है
उसका जी जुड़ा रहा है
पहली बारिश में नहाते हुए पेड़
बच्चों को बुला रहे हैं
बच्चों को माँएँ रोक रही हैं:
पहली बारिश में नहीं भीगते
पेड़ों को भीगने दो जी-भर, उन्हें जुकाम नहीं होता

इस विलम्बित पहली बारिश से
किसानों के दरके हुए हृदय औचक अँखुआने लगे हैं
'जल्द आओ, ज़ल्द आओ' - मन-ही-मन गाते रहे
इक्का-दुक्का मेढक युवा, दबे स्वर में, दिन में ही
छेड़ने लगे हैं वह तानपूरा
जिसकी संगत में
झींगुर छेड़ेंगे रात-भर लम्बी अपनी तान!

क्यों नहीं

ईंटों की एक सख़्तदिल दीवार में
ज़रा-सी मन जगह में
जड़ें फेंक
जिस तरह उग आता है जबरजिद्दी
पीपल का एक बिरवा
और सूरज की एक किरण को अपनी ओर खींचता है

जिस तरह इन दूखे दिनों में भी
धनिया की पत्तियों ने
बचा रखी है अपनी सुगन्धि

उस तरह
उसी तरह
क्यों नहीं मैं, तुम, वो...
आह! क्यों नहीं?

अरुण कमल

प्रणाम

नहीं, मेरे पैरों में न ताकत थी इतनी
न छाती में दम
कि चढ़ता चला जाता ऊपर शिखरों तक
लेकिन दूर बहुत दूर नीचे से मैंने देखीं
वे चोटियाँ हिम से आविष्ट
और अपनी मिट्टी से उठता वह मूल
नभ तक

न तो मुझमें इतनी उज्ज्वलता थी
न इतनी धवल थी मेरी आत्मा
फिर भी मैंने देखी इन कीच भरी आँखों से
वह उदात्तता
वो विभु अनन्तता!

(२ अक्टूबर, वर्धा)

अहिंसा

मैं टुकड़ा था रबर का -
जो भी लिखा उसे मिटाता
खुद भी मिटता जाता;

मैं टुकड़ा था सरेस-पत्र का -
रुखड़े को चिकनाता, पर

खुद भी मिटता जाता;

नहीं जानता क्या है हिंसा, और अहिंसा,
नहीं जानता क्या है क्या?

(वर्धा)

सम्पत्ति की घोषणा के पहले

क्या जरूरी है कि घर हो ही अपना
जिसे खरीद और बेच सकूँ
जो भी दिक्कत है वो जीने भर की
मरने के लिए तो कोई कहीं भी जा सकता है
छोटे से सुनसान रेलवे स्टेशन के
प्लेटफॉर्म के वेटिंग रूम में

जैसे जैसे समय बीत रहा है लग रहा है
लड़ाइयाँ सारी हार चुका हूँ
न तो कोई घर बना न कोई मठ
न चबूतरा पीपल का न अन्न क्षेत्र कोई
यह जीवन कैसा घट जो कभी भरता नहीं

मुझे लौटने दो सेवाग्राम से
फिर घोषित करूँगा अपनी सम्पत्ति।

सत्याग्रही कौन

क्या वो बंदा सत्याग्रही हो सकता है
जो अपने केश रंगता हो
या वो जिसकी छोटी सी प्यारी सी तोंद हो
और दाँत पत्थर के
या वो जिसके कलफदार कुरते की काँख
कभी भींगी न हो पसीने से
या वो जो पहनता हो चीवर पर
स्वामी हो द्वीपों का?

क्या वो बंदा सत्याग्रही माना जाएगा
जिसने किसी के प्राण बचाने को तोड़ दिए कुल वचन
और रात में छिपा कर रखा उस लड़ाके को
जिसके सिर पर इनाम था लाखों का?
और वो बंदा जो कभी सच कभी झूठ बोलता हो
जिस पर एकाध कुछ गलत का भी दाग हो
जिसने दुनिया को जताए बिना कई रातें गुजारीं अन्नहीन
जिसके लिए रोज का जीना मरना ही सत्य हो
और आग्रह बस अगली साँस का?

फादर सर्गियस,
ये सारे सवाल मेरे मन में तब आये जब मैं
सेवाग्राम से लौट रहा था
साँप पकड़ने वाली कैंची देख कर।

बद्रीनारायण

विदा

पहचान में नहीं आ रहा था कि
दोनों में से कौन किसको विदा करने आया है
दोनों अत्यन्त आकर्षक थे
अत्यन्त आधुनिक
पर उनमें एक बात प्राचीन थी
कि दोनों रो रहे थे

एक पण्डुक की रिपोर्टिंग

महुए के घने बगीचे में
अपनी फूल सूँगनी के पीछे भागते
मैं आ गया
आकांक्षाओं के एक महा बाजार में
पण्डुक पक्षी की तरह
'एकै तुही' 'एकै तूही' बोलता हुआ,

मेरे साथ आये थे
तीन तोते, एक पपीहा, एक हारिल
एक महरि पक्षी अति सुन्दर

उनमें से तीन तोते तो इस माया बाजार में
भड़क उठी कामनाओं की अग्नि में जल मरे

पपीहा महत्वाकांक्षाओं के भयानक युद्ध में
शहीद हुआ,
हारिल ने दम तोड़ा संसद भवन के ठीक पीछे के
रसोई घर में
स्वाद, संबंध, रिश्तों की बहुलता की
चकमक आक्रामकता से दीप्त बाजार में
मैं मिटा
'तुही' 'तुही' करता हुआ'
मेरे साथ आई महरि चिड़िया
आज भी रहती है
यही कहीं साउथ दिल्ली में
रोज आधी रात के बाद
मैं जली! मैं जली!!
चीखती हुई।

मैं एक उपनिवेश

मैं अपने देश का विस्तृत होता हुआ एक उपनिवेश हूँ
मेरे भीतर राज करते हैं
राष्ट्रध्वज, राष्ट्रगीत और राष्ट्रवीर्य
मेरा तन, मेरा मन, मेरा धन सब है भाया राष्ट्र एक फैलते हुए बाजार का
कहते हैं कि पैसे की कोई जाति नहीं होती
बाजार का कोई धर्म नहीं होता
पर यह क्या हो रहा है बाजार में

बाजार में
मुझमें आक्रामक, क्रूर और हिंसक
होते जा रहे हैं
मेरी जाति, धर्म और राष्ट्रगर्व

मैं आधुनिक, उत्तर आधुनिक, कुछ-कुछ धर्म निरपेक्ष-सा
सिविल सोसाइटी का जागरूक सदस्य हूँ
पर इतना चैन से मत बैठिये समाज और देश के लिए चिन्तित लोगों!
मेरे भीतर
एक फासिस्ट नागरिक सदा करवट लेता रहता है
जब भी आप सुनेगें मेरी पीठ से लगातार अपना कान,
उसकी आवाज आपको सुनाई देगी

मैं आजाद इन्डीविजुअल
लगता हूँ आपको
पर सच में
मैं अपने देश का उपनिवेश हूँ
जिसमें राज करते हैं
आधुनिक चालाकी
पारम्परिक क्रूरता
भोग, उपभोग, लालच
जाति धर्म और
हिंसक-सा एक राष्ट्रीय गर्व

तीन मुलाकातें

नमिता सिंह

मेरी और मिताली की पहली मुलाकात देहरादून में हुई थी। वहाँ के गवर्नमेंट गर्ल्स कालेज में दो दिन की सेमिनार थी। कथा साहित्य पर कोई विषय था। 'विचार और सर्जनात्मकता' या 'सर्जनात्मकता का रूपांतरण और कथा साहित्य' या ऐसा ही कुछ था। विषय ठीक से याद नहीं है अब। मेरी एक परिचित संयोजन समिति में थी, शायद इसीलिये मुझे भी इस सेमिनार का निमंत्रण मिला। अक्सर इसी तरह के लेनदेन के आधार पर आजकल सेमिनारों, संगोष्ठियों का आयोजन होता है। बहुत दूर की सोचा करते हैं आयोजकगण और कर्ता-धर्ता। आखिर पैसे खर्च करते हैं तो कुछ अपना भी हित सोचेंगे ही।

मेरा एक कहानी संग्रह छप कर आया था। सोचा, वहाँ जाऊँगी तो कुछ 'प्रमोशनल' प्रोग्राम भी हो जायेगा। अब तो ऐसा ही चलन है। फिल्में हों या साहित्य या व्यापार... विशिष्ट योजनाकारों द्वारा प्रमोशन कार्यक्रम अब ज़रूरी होने लगे हैं।

छपे हुए कार्ड में आमंत्रित करने वालों में प्राचार्या डा.वीना घोषाल का और मुख्य संयोजक के रूप में डा. मिताली गुप्ता का नाम था। डा. मिताली से मेरा कोई पूर्व परिचय नहीं था। उसकी कुछेक समीक्षाएँ यदा-कदा पत्र-पत्रिकाओं में पढ़ी थीं। लोगों का कहना था कि मेहनत करके लिखती है, आगे विकास करेगी। उसी कार्ड में मेरी मित्र उमा ने हाथ से दो लाइनें लिख दी थीं,

-'तुम्हें ज़रूर आना है। एक मौका है मिलने का...'

मैंने तुरंत स्वीकृति भेजी और पर्चा लिखने की तैयारी करने लगी। उद्घाटन के लिये जोशी जी को आना था। सोचा, इस बहाने उन्हें अपना संग्रह भी भेंट कर दूँगी। जोशी जी की जिस पर नज़र पड़ जाये, उसे साहित्य की चोटी पर चढ़ा समझो। मैंने कार्ड पर नज़र डाली। आलेख पढ़ने वाली सभी महिलाएँ थीं। कुछ अध्यापिकाएँ, कुछ हम जैसी लेखिकाएँ। एक सुधा वासुदेव थीं महिला मुद्दों पर काम करने वाली चर्चित सामाजिक कार्यकर्ता। उनसे मेरा पत्र-व्यवहार था। सोचकर अच्छा लगा कि उनसे भी मुलाकात होगी। आने जाने का किराया मिल रहा है, दो दिन देहरादून जैसी जगह में रहना। एक दिन सहस्रधारा और मसूरी जाने के लिये। वहाँ का कैम्पटी फॉल देखना है। सब कुछ

अच्छा ही अच्छा। हामी भरने में कोई परेशानी नहीं थी।

मैं देहरादून पहुँच गयी। नवंबर का महीना। मौसम खुशगवार था। यूँ पहाड़ पहले जैसे तो रहे नहीं। बचपन में हमारी नानी अल्मोड़ा से हमें चिट्ठी लिखा करती थीं। गर्मी की छुट्टियों में उनका आग्रह वहाँ आने के लिये होता था। उनका एक वाक्य हमेशा चिट्ठी में रहता-'और तो मैं क्या कर सकती हूँ, क्या दे सकती हूँ, ठंडी हवा और ठंडे पानी का निमंत्रण दे रही हूँ... नानी चली गयी और अपने साथ ही ठंडा पानी और हवा ले गयी। पहाड़ों में भी अब कितनी गर्मी होने लगी है। पंखे चलते हैं। ठंडा पानी जैसे भाप बनकर हवा हो गया है और बर्फ देखना जैसे ईद का चाँद।

बहरहाल, उस समय दिल खुश हुआ। सबेरे पहुँची थी ट्रेन। गुलाबी जाड़े का समय। इस समय तो हरसिंगार फूला करते हैं और हवाओं में खुशबू होती है। खुशग़वार मौसम था। स्टेशन पर मिताली को देखकर सुखद लगा। नीचे उतरकर थोड़ा आगे बढ़ी तो वह प्लेटफार्म पर खड़ी दिखी। मेरा मन फूलकर कुप्पा हो गया। उसने चिट्ठी में कॉलेज पहुँचने के लिये लिखा था और अब स्वयं स्टेशन पर मौजूद। उसने हँसकर हाथ मिलाया,- ''आइये रजनी जी। सफ़र कैसा रहा'' - और बिना मेरा जवाब सुने आगे बढ़ गयी,

-''आप गेट के पास पहुँचिए, मैं आ रही हूँ'' - वह शायद किन्हीं दूसरे लोगों के आगमन और स्वागत के लिये रुकी थी।

पाँच मिनट बाद ही वह बाहर निकलने वाले दरवाजे पर थी। उसके पीछे कुली था सामान लिये। साथ में जोशी जी थे और उनके साथ थे शास्त्री जी, प्रभाकर शास्त्री।

मैंने दोनों को ही झुककर नमस्कार किया। एक ठहरे बड़े कथाकार-संपादक तो दूसरे हिन्दी के शीर्ष आलोचकों में से एक। जोशी जी हमेशा की तरह बेहद सजग। सत्तर साल की उम्र में भी तना-कसा शरीर। बाल घने और काले। होठों पर हर समय मौजूद मुस्कान, आत्म विश्वास और किंचित् शरारत से भरी हुई।

शास्त्री जी से पहले इसी तरह के किसी आयोजन में मिलना हो चुका था। लेकिन, वे मुझे क्या पहचानते! पैंट-शर्ट में कसे कसाये। अपनी उम्र से कहीं अधिक जवान नज़र आ रहे थे। पता नहीं उनके नाम के आगे शास्त्री कैसे लगने लगा होगा। अत्यंत आधुनिक व्यक्ति। देखने में चुस्त-दुरुस्त। यूँ शास्त्री कहने से धोती-कुर्ता पहनने वाले किसी परंपरागत किस्म के आदमी का चित्र उभरता है। पिछले पाँच साल से इतनी बड़ी यूनिवर्सटी में प्रोफ़ेसर थे, अध्यक्ष भी रह चुके थे।

मिताली बहुत उत्साहित लग रही थीं। जोशी जी पहुँच चुके थे। उद्घाटनकर्ता ही अगर मौके पर गच्चा दे जाय तो किसी भी सेमिनार का आधा बंटाधार तो हो ही जाता है। अब जोशी जी मौजूद थे और प्रभाकर शास्त्री को अपने साथ लाये थे इसलिये मिताली की खुशी दोगुनी हो रही थी।

सरकारी गेस्ट हाउस में खास मेहमानों के लिये तीन कमरे बुक थे। जोशी जी और शास्त्री जी के लिये एक-एक कमरा। बचा तीसरा कमरा मिताली ने अपने लिये रखा होगा। मैं बीच में फाँस जैसी अनजाने में अड़ गयी थी। निकालना मुश्किल था इसलिये मिताली ने मुझे अपने कमरे में ही एडजस्ट कर लिया। यूँ भी अकेले उन वी.आई.पी. मेहमानों के साथ वहाँ ठहरने से कोई अप्रिय सवाल उनके कॉलेज या संयोजन समिति में उठ सकते थे। हम तीनों बाहर के मेहमान एक साथ पहुँचे थे इसलिये यही उचित लगा होगा कि हम तीनों एक ही जगह ठहराये जायें। बाकी आने वाले लोगों की दो अन्य गेस्ट हाउसों में व्यवस्था की गयी थी।

मुझे थोड़ा ताज्जुब हुआ। शास्त्री जी का नाम निमंत्रण पत्र में नहीं था। उन जैसी साहित्य में प्रतिष्ठित हस्ती बिना बुलाये आ जाय...। खैर मुझे क्या करना, यह सोचकर मैंने भी अपने कंधे उचका दिये।

–''रजनी, ये कमरा... तुम्हें मेरे साथ... कोई परेशानी तो नहीं होगी...?''

–''कैसी बात कर रही हैं मिताली। ये तो मेरा सौभाग्य... आय, फील ऑनर्ड...''

–''ओ.के.''–और उसकी खूबसूरत धवल मुस्कान उसके चेहरे को जैसे और उजला कर गयी।

●●●

उद्घाटन सत्र भव्य था। हॉल खचाखच भरा हुआ था। जोशी जी तो विलक्षण वक्ता ठहरे। फिर प्रतिष्ठित कन्या महाविद्यालय। शहर के गणमान्य लोग, पत्रकार, लेखक और बड़ी संख्या में छात्राएँ, अन्य महाविद्यालयों के छात्र-अध्यापक। समकालीन साहित्य की नयी प्रवृत्तियों पर सारगर्भित उद्घाटन भाषण था जोशी जी का। उन्होंने विशेष रूप से स्त्रियों के बेबाक लेखन और खुलेपन का ज़िक्र किया था। उन्होंने ज़ोर देकर कहा कि अब स्त्री का परंपरागत रूप और गृहस्थ जीवन का प्रचलित स्वरूप, उसकी बंदिशें ध्वस्त हो रही हैं। इन्हीं ध्वस्त होते परंपरा के खंडहरों से नये समाज का, नये स्त्री जीवन का निर्माण हो रहा है... यहीं से नया साहित्य लिखा जा रहा है।

देर तक तालियाँ बजती रहीं।

–''इट्स रॉकिंग... वंडरफुल...'' वाइस प्रिंसिपल मिस वंदना खड़े होकर जोर-जोर से कह रही थीं।

प्रभाकर शास्त्री विशिष्ट अतिथि थे। पता नहीं क्यों वे उखड़े-उखड़े से लग रहे थे। जैसे शरीर यहाँ है तो मन कहीं और। दाना चुगने के लिये तत्पर सावधान और सतर्क गौरैया की तरह इधर-उधर देखते, वातावरण को परखते-सूँघते। शायद इसी दुविधाग्रस्त मनःस्थिति के कारण उन्होंने ऐलान किया कि वे इस सत्र में भाषण नहीं देंगे। उन्होंने मज़ाक करते हुए यह भी कहा कि कन्या महाविद्यालय में वह बिन बुलाये आये हैं... लेकिन वे प्रसन्न हैं और कल अपना वक्तव्य देंगे।

– ''मैम! प्रो.शास्त्री को तो हम जब चाहें बुला लें। उन्होंने पहले मना कर दिया था अपनी व्यस्तता के कारण...'' मिताली प्रिंसिपल मैम को समझा रही थी और प्रो. शास्त्री के ऐलान पर हंस रही थी।

प्राचार्या डॉ. वीना घोषाल सचमुच गद्गद थीं।

– ''मिताली, थैंक्स। तुमने जोशी जी को यहाँ बुला लिया। और हाँ! प्रो. शास्त्री को कैसे एडजस्ट करना होगा, तुम देख लेना।'' डा. घोषाल चाय पर कह रहीं थीं।

– ''मैम! प्रो.शास्त्री को मैंने इसीलिये बुलाया। वे ही जोशी जी को लेकर आये हैं..''

सच! मिताली जानती है काम कैसे होता है। अपना प्रभामंडल तो बनाना पड़ता है। घोषाल मैम को शायद मालूम नहीं होगा कि मिताली गुप्ता, प्रो. शास्त्री की छात्रा रह चुकी है। उनका वरदहस्त रहा है उसके ऊपर! लगातार लिखने-पढ़ने के लिये वे प्रोत्साहित करते रहते हैं... यह जानकारी मिताली ने शाम को दी जब उस दिन का दूसरा सत्र समाप्त होने के बाद हम लोग गेस्ट हाउस जा रहे थे।

●●●

मिताली थोड़ी देर बाद अपना बैग लेकर आ गयी।

– ''आराम कर रही हो रजनी...'' मुझे लेटा देखकर बोली वह। हम लोगों के बीच खासी बेतकल्लुफी पैदा हो चुकी थी।

उसने मुँह हाथ धोया। साड़ी बदली और चली गयी। कह रही थी कि कल की व्यवस्था देखनी है

उसे।

नौ बज गये। मैं थकी हुई थी। कल का अपना पेपर निकाल कर दोहराया जो मुझे पढ़ना था। डायनिंग हॉल से फोन कॉल आ चुकी थी। मैं अकेले ही खाना खाने चली गयी। वी.आई.पी. गेस्ट अभी नहीं आये थे। वे लोग ठहरे बड़े साहित्यकार-लेखक। रात का डिनर ऐसे ही सूखे-सूखे थोड़ी लेते। अच्छा है दो जने हैं। एक दूसरे का साथ दे रहे होंगे।

मैं खाना खाकर आई तो देखा उन लोगों का कमरा बंद था। अपने कमरे में आकर मैंने नाइट गाउन डाला और सो गयी। मिताली का इंतजार करना बेकार था।

आँख लगी ही थी कि दरवाज़े पर खट्-खट् हुई। दरवाज़ा खोला। मिताली थी।

-''अरे सो गयीं।''

मैं उनीदी आँखों से देखती रही उसे चुपचाप!

-''चलो, थोड़ी देर बाहर बैठते हैं...''

-''अब! इस वक्त!! टाइम देखा...''

-''अरे ग्यारह भी तो नहीं बजा! चलो लॉन में चलते हैं...''

मेरे चेहरे पर कोई उत्साह न देखकर फिर बोली,

-''कुर्सियाँ निकलवा ली हैं मैंने... अरे वो लोग इंतज़ार कर रहे हैं भई...''

-''कौन लोग ?'' मेरी भौहें अभी भी चढ़ी हुई थीं।

-''अरे जोशी जी और प्रो. शास्त्री! जोशी जी पूछ रहे थे तुम्हें...'' वो मानो मुझे बहला रही हो,

-''डॉ. मिताली, मैंने कपड़े बदल लिये हैं। बार-बार ड्रेस चेंज करना मेरे बस की नहीं... और इस नाइट गाउन में मैं नहीं जा सकती बाहर।''

-''ओफ फो... तुम भी...''

-''हाँ, आय'म ओल्ड फैशन्ड यार। पुराने ज़माने की समझ लो मुझे।''

दो सेकिंड सोचते हुए उसने अपना बैग खोला। एक शॉल निकाली। हल्की-फुल्की सी शॉल थी।

-''लो! दादी अम्मां! इसे लपेट लो, और चलो अब...''

दरवाजे पर सांकल चढ़ा, लगभग खींचती हुई सी ले गयी वह मुझे बाहर, लॉन में।

दो कुर्सियों पर जोशी जी और प्रो. शास्त्री डटे हुए थे। दो खाली कुर्सियाँ हमारे लिये थीं। बीच में एक छोटी तिपाई थी और उस पर एक ऐश ट्रे। जोशी जी की सिगरेट के किस्से तो मशहूर थे लेकिन प्रो. शास्त्री भी इतनी सिगरेट पीते हैं, मुझे मालूम नहीं था।

दोनों ने बहुत गर्मजोशी से हमारा नहीं, ऐसा लगा कि मेरा ही स्वागत किया। मैं पकड़कर लाई गयी हूँ, शायद इसका आभास उन्हें था।

जासूसी किस्सों में एक मुख्य कर्ता होता है और एक उसका कवर होता है। मुझे शीघ्र लग गया कि मेरी भूमिका कवर की है। शायद मिताली का कवर बनी थी मैं। प्रो. शास्त्री अब भी वैसे ही चुप थे। शाम के तरल-गरल का कार्यक्रम शायद उन्हें कुछ सुकून दे पाया हो। मैं सचमुच उनींदी हो रही थी। बातें सिर्फ कानों से सुन रही थी... दिमाग खाली थी।

अचानक मुझे लगा कि बातचीत विवाह संस्था की निरर्थकता पर चल रही है। आधुनिक स्त्री के संदर्भ में इसको ग़ैर जरूरी और बाधक साबित कर रहे थे जोशी जी।

फिर उन्होंने एक कहानी सुनायी। पश्चिम की स्त्री की ईमानदारी और यौन संबंधों की स्वतंत्रता पर। कहानी का सारांश यह कि एक स्त्री अपने एक अंतरंग पुरुष मित्र के पास जाती है। उससे कहती है कि आज रात वह उसके साथ रहेगी। वह गद्गद हो उठता है। आधी रात को उस स्त्री के

पति का फोन आता है। वह पुरुष मित्र फोन उठाता है और मना कर देता है कि उसकी पत्नी यहाँ नहीं आई थी। थोड़ी देर बाद फिर पति का फोन आता है-वह कहता है कि फोन उसकी पत्नी को दे दिया जाय। उसे मालूम है कि वह वहीं है और उसके साथ बिस्तर पर है। वह खुद उसे बताकर गयी थी कि रात वह अपने उस मित्र के साथ बितायेगी...

- ''देखिये! इसे कहते हैं स्वाधीन स्त्री का चरित्र। उसकी बोल्डनेस। इससे भी ज़्यादा स्त्री-पुरुष संबंधों में ईमानदारी... क्यों!!'' मानीखेज़ नज़रों से देखते हुए जोशी जी मुस्कुराये। पहले मेरी ओर देखा... कहानी का प्रभाव मेरे चेहरे पर टटोलते हुए और फिर मिताली को देखते हुए प्रो. शास्त्री के चेहरे पर नज़रें गड़ा दीं-

- ''क्यों! क्या कहते हो प्रोफ़ेसर!''

- ''मैं सहमत हूँ आपसे पूरी तरह। ये टैबूज़... ये रीति-रिवाज़... चलती चली आ रही लुटीपिटी जर्जर परंपराएँ... ज़िंदगी इनसे मुश्किल हो जाती है... जीवन उन्मुक्त होगा तो मन-मस्तिष्क भी मुक्ताकाश में उड़ेंगे, आसमान छुएँगे। यूँ ही ज़िंदगी में दुविधाएँ-बाधाएँ कम हैं जो मन की गाँठें और बढ़ा लें...''

मेरा दिल किया कि इस पर कुछ अपनी बात कहूँ.... यह तो ऐसी बात थी जिस पर लंबी बहस की जा सकती थी....

लेकिन मैं चुप रही। मुझे लगा कि यह सब शायद किसी योजना के तहत कहा जा रहा है। विशेष प्रयोजन है इसका। एकाएक अपनी कवर वाली भूमिका का बहुत ज़ोर से अहसास होने लगा..
.

-''बापरे... बारह बज गये''-मैंने उठते हुए कहा।

-''अरे तो क्या दूध पीती बच्ची हो, या अम्माँ डांटेगी... कम ऑन रजनी। मुझे तो समझ नहीं आता, कैसे कहानियाँ लिख लेती हो तुम...

-''अब मिताली लिखेंगी नयी कहानी- क्यों?'' और मैं हँसती हुई अपने कमरे की ओर चल दी।

दस-पंद्रह मिनट बाद मिताली आई। उसके हाथ में एक किताब थी। मुस्कुराते हुये, गर्दन तानकर उसने मेरी ओर बढ़ाई।

मध्यकालीन भक्ति काव्य पर सद्यः प्रकाशित पुस्तक थी वह प्रो.शास्त्री की जिसे उन्होंने मिताली को समर्पित किया था। अक्षर चमक रहे थे-''मिताली के लिये जिसके सहयोग के बिना इस कृति की रचना असंभव तो नहीं लेकिन मुश्किल ज़रूर थी।''

-''प्रोफ़ेसर साहब ने यह मुझे डैडीकेट की है...'' उसका खिला हुआ चेहरा एक बहुत बड़ी उपलब्धि की कहानी बयान कर रहा था।

-''बधाई बहुत-बहुत मिताली!'' मैंने खुशी से थरथराते उसके दोनों हाथों को थाम कर पूरे सम्मान के साथ उसे पुस्तक सौंप दी।

मैं अपने बेड पर लेट चुकी थी। उसने मुँह धोकर नाइटी पहनी और अपने बिस्तर पर आ गयी।

-''लाइट ऑफ़ कर दूँ-''

-''श्योर''

मैंने आँखें बंद कर लीं। अचानक मेरे मुँह से निकला-

-मिताली, आर यू हैप्पी? बहुत खुश हो ना आज।''

-''बहुत! बहुत खुश हूँ मैं। रियली, आय'म वेरी-वेरी हैप्पी...''

अँधेरे में उसकी खुशी महक रही थी। उसके चेहरे की चमक से पूरा कमरा आकाश गंगा की दूधिया चाँदनी से गमक रहा था।

●●●

तीन साल बाद! हाँ, लगभग इतना ही अर्सा हुआ होगा, मैं अपने कॉलेज के काम से दिल्ली पहुँची। लखनऊ से हमारी ट्रेन सबेरे ही दिल्ली पहुँच गयी थी। मेरे साथ मेरे विभाग की एक सीनियर लेक्चरर भी थीं। अबकी एक राष्ट्रीय संगोष्ठी करने के लिये विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से हमारे कॉलेज को भी अनुदान मिल गया था। जो तीन लोग हमारी लिस्ट में मुख्य अतिथि के लिये चिह्नित थे उसमें से दो का आना निश्चित नहीं हो पा रहा था। तीसरे नंबर पर प्रो.शास्त्री का नाम था। हमारी प्राचार्या महोदया का आग्रह था कि खुद जाकर उनसे मिलना चाहिये ताकि स्थिति साफ हो और कार्यक्रम की रूपरेखा जल्दी से जल्दी मुकम्मल हो सके।

स्टेशन के वेटिंग रूम में ही हम दोनों तैयार हो गये। इरादा था कि सबेरे ही उन्हें पकड़ लें। दिल्ली में तो लोग सबेरे के निकले हुए कब वापिस दरवाजे की चौखट लाँघे, मालूम नहीं। फिर प्रोफ़ेसर साहब सिर्फ अध्यापक ही नहीं लेखक भी हैं इधर-उधर कार्यक्रमों में व्यस्त रहते हैं। सुना था घर-परिवार साथ नहीं रखते.... इसलिये जल्दी पहुँचना और भी ज़रूरी था। बहरहाल, हम नौ बजे के लगभग घर के दरवाजे पर थे।

बाहर के हिस्से की सजावट... बेहद सुरुचिपूर्ण। लॉन की हरी घास और करीने से लगे पौधे और फूल बता रहे थे कि उनकी देखभाल नियमित होती है और मन से होती है। छोटा-सा चौकोर बरामदा। कोने में अजंता-एलोरा की तीन चार मूर्तियों की टेराकोटा में अनुकृतियाँ रखी हुई थीं। छोटे गमलों में लगे फर्न्स। ऊपर से एक शुभचिह्न जैसा कुछ लटक रहा था। कौन कहेगा अकेले रहते हैं प्रोफ़ेसर साहब। अच्छा लगा उनके व्यक्तित्व के इस खूबसूरत पहलू को देखकर। घंटी बजानी चाही, लेकिन कहीं दिख नहीं रही थी। मेरे साथ खड़ी मिसेज वर्मा ने दरवाजे के पास दीवार पर लगे एक छोटे से बया के घोंसले की ओर इशारा किया। सच... घोंसले के सामने के बड़े गोल छेद से घंटी के स्विच से बंधी एक छोटी-सी डोरी लटक रही थी।

-''क्या बात है! एक दम नया आइडिया...''

घंटी तो बजी.... लेकिन कोई उत्तर नहीं। एक मिनट बाद फिर जोर से दो बार डोरी खींची गयी... तीसरी बार की जरूरत नहीं पड़ी, शायद कोई आ रहा था।

दरवाज़ा खुला। सामने कमरे की चौखट के भीतर एक महिला थी... चेहरे पर असंपृक्त सा भाव। माथे के बल दरवाज़ा खोलने की नाखुशी जता रहे थे। शायद हम गलत समय पर आये थे.... नाइट गाउन पहने महिला को कपड़े बदलने का समय नहीं मिला था।

एक सेकेंड के लिये मैंने अपने दिमाग पर जोर डाला।

-''डा. मिताली गुप्ता! आप!! कैसे...'' फिर अचानक मेरे दिमाग में कुछ कौंधा और मैंने अपने सवालों पर एकदम लगाम लगाई। अपना स्वर सामान्य किया,

-कैसी है डा. मिताली। हमें प्रो. शास्त्री से मिलना था.. क्या अंदर नहीं हैं...

यह पहचान मिताली के लिये परेशानी पैदा करने लगी। पहले की तरह ऊर्जा से भरी-छलकी नहीं लग रही थी। नज़रें भी पूरी तरह सामान्य नहीं हो पा रही थीं। कभी ऊपर देखती- कभी नीचे... मिताली दुविधा ग्रस्त थी।

मुझे लगा हमने यहाँ आकर बड़ी गलती कर दी। मिसेज वर्मा खड़ी हम दोनों का मुँह ताक रही

थीं।

–''पूरे तीन साल बाद मुलाकात हो रही है। याद है देहरादून में... आर.टी.डी.सी. के गेस्ट हाउस में...। कितनी गप्पें मारी थीं हमने... दो दिन बहुत अच्छे बीते थे मिताली जी..'' मैंने पहचान का सूत्र थमाना चाहा ताकि उन यादों के रास्ते पर वह और मैं खड़े होकर सामान्य हो सकें।

हल्के से मुस्कुराई मिताली। दरवाजे के सामने से हटकर हमें रास्ता देते हुये बोली,

–''रजनी शर्मा हैं न आप। पहचान गयी मैं- अंदर आइये...''

मैंने मन ही मन राहत की साँस ली।

–''दरअसल, प्रोफ़ेसर साहब हैं नहीं! कल रात निकल गये वह। शायद आज रात तक आ जायं...''

फिर बेहद उतावलेपन बोली,

–''प्रोफ़ेसर साहब आज कल नई किताब पर काम कर रहे हैं, हम दोनों के नाम से ही जाएगी किताब... इसी वजह से मैं....''

उन्हें और उलझन में पड़ने का मौका दिये बिना मैं बोल पड़ी,

–''बहुत बधाई डॉ. मिताली, एडवांस में। आपकी किताब जल्दी आये, और किताबें भी आयें। आपकी मेहनत सफल हो... ऑल द बेस्ट मिताली जी...''

हम लोग फिर उठ लिये। अपनी प्राचार्या की ओर से लिखा गया अनुरोध पत्र हमने उन्हें ही सौंप दिया और कहा कि वे हमारी सिफारिश करें कि प्रोफ़ेसर साहब हमारा आतिथ्य ग्रहण करने को तैयार हो जायं । इस अनुरोध पर एक बार फिर उसका चेहरा चमकने लगा। वह पत्र हाथ में लेते हुए अब नार्मल थी। शायद यह जिम्मेदारी का अहसास था।

हम चलने लगे। उसे और ज़्यादा तनाव नहीं देना चाहते थे। बेचारी तभी सो कर उठी होगी। बाहर निकलते-निकलते मैंने शरारतन पूछ लिया,

–अब देहरादून नहीं रहतीं आप...

उसकी ज़बान फिर अटकने लगी। पहचान न होती तो वह हमें डाँट देती, लेकिन अब संभव नहीं था। गेस्ट हाउस, वहाँ का लॉन, जोशी जी और शास्त्री जी के साथ आधी रात तक गप-शप! जोशी जी की कहानी... सब कुछ तो हमें याद था।

–नहीं... छुट्टी पर हूँ... स्टडी लीव...

–''अरे वाह! फिर तो एक क्या दो किताबें तैयार कीजिये। और बताऊँ... डी.लिट् भी कर डालिये लगे हाथ...''

फिर वही बुरी आदत, मैं बिना मांगे सलाह दे रही थी।

–''चलिये! डॉ. मिताली गुप्ता, आज आपसे मिलकर बहुत अच्छा लगा। खुश तो हैं न अब आप...''

मेरी ओर नज़रें उठाकर 'फिक्क' से हंस दी वह। फिर वही सफेद मोती जैसे दांतों की लड़ी चमक गयी। बच्चों जैसी हंसी थी उसकी जिसे उसका मनचाहा मिल गया हो। अपनी उम्र से कहीं छोटी... ताज़गी भरी लग रही थी।

लौटते हुए मैंने सोचा कि आदमी को उसका मनचाहा मिल जाय, इससे बड़ा सुख-सौभाग्य और क्या हो सकता है। एक ज़िंदगी, उसमें भी गिरते-पड़ते रहे.... तरस-तरस कर जिये... क्या अक्लमंदी है।

●●●

डॉ. मिताली गुप्ता से इसके बाद पिछले पाँच-छह साल तक मिलना नहीं हुआ। तीसरी मुलाकात तो अभी हुई। पंद्रह दिन पहले पुस्तक मेला में। यूँ तो हर तीसरे साल दिल्ली में यह एक बड़ा हलचल भरा आयोजन होता है जिसमें सिर्फ दिल्ली वाले ही नहीं, पूरे देश के लोग इसमें शामिल हो जाते हैं। पुस्तक प्रेमी और ग़ैर प्रेमी.... सभी अपनी उपस्थिति दर्ज करना जैसे कर्तव्य समझते हों। किताबें उलटना पलटना... फैशन भी तो है... पढ़े लिखे होने का भावात्मक संतोष भी देता है। किताबों के बीच से गुजरते हुए, किताबों की गंध के बीच एक सुखद अहसास होता है। आउटिंग और मेल मिलाप का भी अवसर है यह।

मैं तो शायद हमेशा की तरह फिर घर-गृहस्थी की झंझटों में उलझकर रह जाती, अगर लाइब्रेरी की ओर से मुझे पुस्तक मेला में जाने और बीस हज़ार की किताबें आर्डर करने की जिम्मेदारी न सौंपी गयी होती। लाइब्रेरी ग्रांट का पैसा आया था और मार्च तक उसे बराबर करके हिसाब देना था।

यूँ इस बीच कई उड़ती-उड़ती खबरें आती रहीं। प्रो. शास्त्री के बारे में भी अक्सर तरह-तरह की बातें हवा में तैरती रहतीं। अब गुरु और शिष्याओं के बीच संबंध चर्चा का विषय नहीं बनते। उदारीकरण के माहौल ने स्त्री-पुरुष संबंधों को भी सहजता प्रदान की है। अनेक समस्याओं का निराकरण किया है और जीवन को सहज बनाया है। बदलते सामाजिक मूल्यों में जीवन की सहजता एक बड़ी उपलब्धि है। यह सहजता ही तो खुशी का माध्यम बनती है।

सुना था कि प्रो. शास्त्री का परिवार कभी उनके साथ नहीं रहा। कैसे रहता? वे बौद्धिकता के शिखर पर, साहित्य, समाज के लिये समर्पित। कितनी योजनाएँ-कितने विचार-कितना कुछ करना! सब इसी जीवन में। हर साल गर्मियों में गाँव जाते। खूब पैसा-टका देकर आते। बड़ा-शानदार घर बनवा दिया था जो गाँव के लोगों के लिये ईर्ष्या का सबब था।

डॉ. मिताली गुप्ता ने देहरादून छोड़ दिया। सुना था दिल्ली में किसी सरकारी संस्थान में राजभाषा अधिकारी हो गयी है। ये अच्छा हुआ। घरवालों को छोड़कर आई और अपनी मर्ज़ी का जीवन जी रही है, फिर किसी किस्म का अपराध बोध क्यों हो! अपना कमाओ-ठसके से रहो... दुनिया ठेंगे पर।

लेकिन अबकी बार मिताली से मुलाकात हुई तो अजीब लगा। पता ही नहीं चला कौन किसे ठेंगा दिखा रहा है। दरअसल उसको तो मैंने बाद में देखा। फव्वारे के पास प्रो.शास्त्री थे। लंबे-लंबे डग भरते चल रहे थे। चार-पाँच लोग दायें-बायें। पूरी मित्रमंडली साथ थी उनके। पुस्तक मेला के आखिरी दो दिन बचे थे इसलिये भीड़ भी ज़्यादा थी। प्रगति मैदान की विशालता और गेट से लेकर विभिन्न हॉलों तक जाने का इतना लंबा रास्ता कि अच्छे भले आदमी को थका दे। फिर भीड़ से बचने की अलग चिन्ता। ऐसे में किसे ध्यान रहेगा कि कौन आपके पास से गुज़र गया।

उनकी खनखनाती हंसी ने ध्यान खींचा। कुछ लोगों की आवाज़ को आप हज़ारों की भीड़ में भी पहचान सकते हैं। प्रो. शास्त्री की हँसी मानो उनके पूरे व्यक्तित्व को साकार कर देती है। ऊर्जा से भरी उनकी जोरदार हंसी।

मैंने घूम कर देखा। प्रो. शास्त्री ही थे। हँसते-बतियाते। शायद कोई मज़ाक-कोई लतीफ़ा चल रहा था। अब कहाँ सबके बीच में घुसकर नमस्कार करूँ-मैं चुपचाप कट ली वहाँ से।

हम लोग आगे बढ़ रहे थे रेस्त्रां की ओर कि कुछ पेट पूजा हो जाय। तभी नज़र पड़ी डा. मिताली गुप्ता पर। मैंने घूमकर देखा... प्रो.शास्त्री तो खासे आगे थे। यह अकेली-अकेली कहाँ टहल रही हैं ?

लेकिन मिताली को हुआ क्या? बीमार नज़र आ रही थी! आर्थराइटिस की मरीज़ हो गयी थी शायद। पैंतीस-चालीस के बाद तो सत्तर-अस्सी प्रतिशत लोग कमोबेश आर्थराइटिस के मरीज हो

जाते हैं। हड्डियाँ चटखने लगती हैं या कि चटखारे लेने लगती हैं। उसका एक पैर लचक रहा था। लगता था जैसे खींच रही हो आगे बढ़ने के लिये। दाँये-बाँये झुकती-पैर खींचती... क्या अपनी तरफ़ कोई ध्यान नहीं देती?

मेरे सामने देहरादून के गेस्ट हाउस के लॉन में खिली-खिली, कुछ शरमायी-कुछ सकुचाई ताज़ा हवा के झोंके सी मिताली कौंध गयी। बिल्कुल ही भूल गयी है अपने को! साड़ी का पल्लू कहीं जा रहा है, शॉल कहीं लटक रही है....

-''हाय, मिताली जी'' मैं फौरन उसके सामने पहुँच गयी थी, जैसे रास्ता रोक रही हूँ....'' कैसी हैं! और...

-''अरे! रजनी''-मुस्कुराहट तैर आई उसके होठों पर। लेकिन नज़र सामने टिकी थी-किसी को ढूँढ़ती... पीछा करती...। प्रो.शास्त्री शायद किसी हॉल में चले गये थे, इसलिये नज़र नहीं आ रहे थे।

-''और सब ठीक''! मिताली बातों को कट शार्ट करना चाहती थी। मैं उसकी दुविधा समझ गयी।

-''आप प्रो. साहब को देख रही हैं न! वे मुझे अभी हॉल नंबर बारह की ओर जाते दिखे थे।''

-''मित्रों के साथ होंगे! बस! मित्रगण मिल जायं तो सब भूल जाते हैं। उन्हें शायद याद भी नहीं कि मैं साथ में हूँ। अच्छा चलती हूँ, इधर-उधर हो गये तो ढूँढ़ना मुश्किल होगा...'' वह बोलने में कुछ हाँफ रही थी। जल्दी-जल्दी चलने की कोशिश से था शायद।

-''मिताली जी''.... मैं आवाज़ देते-देते रह गयी। नहीं, अब कुछ नहीं कहूँगी। मैं पूछना चाहती थी,

मिताली... आप खुश तो हैं न! आर यू हैप्पी...।

अब खुशी रास्ता चलते थोड़ी दिखाई देती है! यह तो अंदर की चीज़ है न!

सहयात्री

नीलाभ

किसी लम्बे सफ़र के सहयात्रिओं के लिए एक-दूसरे के बारे में तटस्थ रहना या फिर पूर्वाग्रहों से मुक्त हो कर सोचना-विचारना अक्सर सम्भव नहीं होता। सफ़र के दौरान तो आपसी निकटता इस कैफ़ियत को बढ़ाती ही रहती है, सफ़र के ख़त्म होने या फिर एक-दूसरे से अलग होने के बाद भी स्मृतियों का रसायन एक-दूसरे को आँकने की क्षमता पर अपना असर छोड़ता रहता है। फिर, अगर ये सहयात्री पिता-पुत्र के रिश्तों में बँधे होने के साथ-साथ हमपेशा भी हों तो कठिनाई और भी बढ़ जाती है। इसलिए आज जब दिवंगत पिता को स्मरण कर रहा हूँ तो यह तय करना मुश्किल हो रहा है कि उन्हें किस रूप में और किन स्मृतियों के सहारे याद करूँ। कारण यह कि उनके साहचर्य में बितायी गयी सुदीर्घ अवधि में मेरे तईं उनका कोई स्थायी रूप नहीं रहा। मेरी किशोरावस्था तक अगर वे पूरी तरह पिता की भूमिका में मौजूद थे तो उसके बाद धीरे-धीरे यह भूमिका कब और कैसे मित्र, सखा, गुरु, सहकर्मी और प्रतिस्पर्धी में रूपान्तरित होती चली गयी, इसका सही-सही अनुमान शायद उन्हें खुद भी नहीं रहा होगा। दिलचस्प बात है, और मेरे लिए बहुत ही अर्थपूर्ण, कि इन सारे रूपों में साहित्यकार उपेन्द्रनाथ अश्क की उपस्थिति बराबर उस अन्तर्धारा की तरह बनी रही, नदी की सतह पर जिसका अक्सर पता नहीं चलता ।

'अन्तर्धारा' शब्द का प्रयोग मैंने जान-बूझ कर किया है और हो सकता है कि बहुत-से लोग इससे असहमत हों, क्योंकि हिन्दी-उर्दू के साहित्यिक क्षेत्र में उपेन्द्रनाथ अश्क एक विवादग्रस्त व्यक्तित्व का नाम है। 'साहित्यकार' विशेषण को उन्होंने कुछ इस तरह अपने नाम का हिस्सा बना लिया था, मानो यह उनके कर्म का सूचक न हो कर उनके अस्तित्व का सूचक हो। मानो यह भी उनके तख़ल्लुस 'अश्क' के साथ ही उनके नाम के शुरू में पैवस्त हो गया हो। इसका ज़िक्र भी वे कुछ ऐसी बाक़ायदगी और पाबन्दी से करते कि लोग उनसे ख़ासे नालाँ रहते थे और प्रतिक्रिया में इस विशेषण को उनके नाम के आगे से खुरच निकालने की पुरज़ोर, मगर बेसूद, कोशिशों में मुब्तिला रहते थे।

यों बीसवी सदी के हिन्दी-उर्दू साहित्य के इतिहास में उनकी साहित्यिक लड़ाइयों, संघर्षों,

विवादों का एक लम्बा ब्योरा दर्ज है। उन्होंने जीवन के अनेक क्षेत्रों में ज़ोर-आज़माई करने के बाद लेखन को चुना था और इस चुनाव के बाद व्यक्तिगत परिस्थितियों के चलते बीच-बीच में अगर उन्होंने पूर्णकालिक लेखन को कुछ समय के लिए स्थगित कर दूसरी तरह का काम किया भी, तो भी उनकी नज़र बराबर लेखन-कर्म पर टिकी रही। अपने चुनाव के प्रति न केवल उनमें अडिग आस्था थी, बल्कि वे निष्ठापूर्वक इस चुनाव का औचित्य भी सिद्ध करते रहे।

मगर यह सब तो आज सोच पा रहा हूँ। मेरे अन्तर्मन में उनकी जो प्रारम्भिक छवियाँ सँजोयी हुई हैं, उनमें उनके कर्म की, उनके 'साहित्यकार' वाले रूप की प्रकट उपस्थिति नहीं है। सच तो यह है कि आधी सदी से भी ज्यादा पीछे पलट कर समय के धुँधलकों को भेदते हुए बचपन के धूमिल स्मृति-लोक में झाँकता हूँ तो माँ के अलावा पहली सूरत या सूरत का आभास अपने छोटे मामा का ही दर्ज कर पाता हूँ, जो बम्बई से पंचगनी आये हुए हैं। पिता उस समय सैनेटोरियम में थे और यक्ष्मा के संक्रमण से बचाने के लिए मुझे अलग-थलग ही रखा जाता था। यह तो मुझे बहुत बाद में पता चल पाया कि तब तक वे औसत से कहीं ज्यादा ज़िन्दगी जी आये थे। जालन्धर का तकलीफ़देह पारिवारिक माहौल, लाहौर के आरम्भिक संघर्ष, तीन विवाह और उनसे पैदा होने वाले भूकम्प, फ़िल्मी दुनिया का लुभावना लोक- सब पीछे रह गया था और टी.बी. से जूझते हुए वे एक नये जद्दो-जेहद की तैयारी कर रहे थे, जिसका आगाज़, आंशिक रूप से रोगमुक्त होने के बाद, इलाहाबाद में दोबारा बसने के फ़ैसले के साथ ही शुरू होने वाला था।

पिता से जुड़ी हुई पहली स्मृति इसी जद्दो-जेहद के इब्तदाई दौर की है। पिता ने रोगमुक्त होने के बाद इलाहाबाद बसने का फ़ैसला किया था। बम्बई में फ़िल्मी जीवन के दो वर्षों में जो अच्छी-ख़ासी रकम जमा की थी, वह बीमारी के डेढ़-दो वर्षों में साफ़ हो गयी थी। दिल्ली में तीस हज़ारी के भैरो मन्दिर के पास का किराये का मकान मेरे बड़े मामा की घोर लापरवाही के कारण शमशेर सिंह नरूला के भाई ने हथिया लिया था लाहौर अब बिदेस बन चुका था, और जालन्धर ही रहना होता तो वे इक्कीस साल की उमर में, किसी अवलम्ब के बिना, लाहौर जाते ही क्यों! इसलिए पिछले पड़ावों से कोई उम्मीद बाँधी नहीं जा सकती थी। ऐसी हालत में आगे की राह इलाहाबाद की तरफ़ ही जाती थी, जहाँ श्रीपतराय और वाचस्पति पाठक जैसे पुराने मित्र थे, महादेवी जी और पन्त जी जैसे शुभेच्छु सहकर्मी थे। यह अलग बात है कि इलाहाबाद आने के कुछ ही महीनों में यह स्पष्ट हो गया था कि विपदा के घात-प्रतिघात आम तौर पर अकेले ही झेलने पड़ते हैं।

श्रीपतराय के घर हेस्टिंग्स रोड पर श्री अज्ञेय के कारण और फिर 'साहित्यकार संसद' में गंगाप्रसाद पाण्डे की वजह से स्थायी बसेरे का सवाल बराबर सिर पर मँडराता रहा। पिता अभी ज़ेरे-इलाज थे। अधिक श्रम मना था। ऐसे में माँ सुबह रसूलाबाद से इक्के पर चलतीं, छै-सात मील का सफ़र तय करके लीडर प्रेस आतीं, जहाँ 'भारती भण्डार' का दफ्तर था और दिन-दिन भर मुझे साथ लिये मकान की तलाश करतीं। पचास साल पहले का इलाहाबाद एक बड़ा-सा गाँव ही था। निर्जन और खुला-खुला। तो भी मकानों की क़िल्लत पुरानी बीमारी जैसी थी। अन्त में वहीं लीडर प्रेस के नज़दीक की एक कच्ची सड़क पर, जिसके एक तरफ़ बँगलों की क़तार थी और दूसरी तरफ़ खुसरोबाग़ की उँची चारदीवारी, एक मकान मिल गया। बड़े-से बँगले की पिछली तरफ़ बनी छोटी-सी बँगलिया। पिता के साथ पहली स्मृति इसी बँगलिया के बीच वाले कमरे की है। शाम का वक्त है। कमरे में एक बिना शेड का बल्ब लटका जल रहा है। लोहे के बड़े-से ट्रंक पर ईंट के रंग के कढ़ाईदार पर्दे बिछा कर मैं और पिता बैठे हुए हैं। कुछ सामान पहुँच गया है। बाक़ी सामान माँ ले कर आने वाली हैं और पिता कह रहे हैं कि थोड़ा-सा सबर करो, अभी तुम्हारी माँ आयेगी तो कुछ खाने-पीने का इन्तज़ाम करेगी। अजीब बात है कि स्मृति की तमाम पुरपेच गलियों से हो कर जब मैं स्मृति के

उस धुँधलके में झाँकता हूँ तो न मुझे गर्मियों की लू में रसूलाबाद से इक्के पर माँ के साथ ६-७ मील दूर शहर आना याद आता है, न हेस्टिंग्स रोड और 'साहित्यकार संसद' का वातावरण। बस, झुटपुटे के समय नंगे बल्ब के नीचे लोहे के ट्रंक पर बिछे पर्दे पर पिता के साथ बैठना और उनके सान्त्वना-भरे स्वर का एहसास होता है।

उसके बाद तो बिम्बों की एक लम्बी श्रृंखला है....उसी बँगलिया के बरामदे में पिता के साथ बैठ कर वर्षा को धारासार गिरते देखना... थोड़ा बड़े होने जाने पर दोपहर को पिता के सो जाने पर दबे पाँव भाग निकलना...मसूरी जाना, वहाँ बुख़ार से बिस्तर थाम लेना और माँ के अचानक इलाहाबाद लौट जाने पर महीना भर बाद पिता के साथ सेकेण्ड क्लास के कूपे में इलाहाबाद लौटना.. एक रात दस बजे लीचियाँ खाने की फ़रमाइश करना, फिर पिता के साथ चौक जा कर लीचियाँ ख़रीदना और पिता के निर्देश पर उन्हें घर ले जा कर सबके साथ मिल-बाँट कर खाना...

कुछ और बड़े होने पर अन्य बिम्ब भी आ जुड़े। किशोरावस्था में क़दम रखते ही पिता का एक दूसरा रूप उजागर होने लगा। 'प्राप्तेषु षोडषे वर्षे' के पुराने संस्कृत सूत्र में उनका विश्वास उनके बदले हुए व्यवहार से प्रकट होने लगा। सोलह साल का होने पर पुत्र को मित्रवत मानते हुए उन्होंने धीरे-धीरे जीवन के अपने अनुभव बेबाकी के साथ मुझसे बाँटने शुरू किये। कुछ समय बाद पिता और मित्र की उस भूमिका में गुरु की भूमिका भी आ मिली और मित्रवत होने के नाते मुझे जो छूट मिली थी, वह शिष्यवत होने के नाते कुछ पाबन्दियों से बराबर घिरी रही। कारण शायद यह था कि ज़िन्दगी की तमाम उँच-नीच से गुज़रने के बाद पिता ने कुछ उसूल बना रखे थे, जिनका वे बडी कड़ाई से पालन करते थे। किसी क़िस्म की उच्छृंखलता और स्वैराचार उन्हें पसन्द नहीं था। शायद उन पर हमारे दादा की फक्कड़, लगभग घर-उजाड़ू, स्वच्छन्दता की तीखी प्रतिक्रिया हुई थी। शुरू-शुरू में तो ख़ैर वे कठोरता से मना कर दिया करते, पर बाद में भी, जब पाबन्दियाँ शिथिल हो गयी थीं, तब भी वे नापसन्दी ज़ाहिर करने से कतराते न थे। जीवन के गहरे अध्ययन से उन्होंने कुछ सूत्र बनाये थे, जिन्हें वे अक्सर हमारे सामने दोहराते। बिना उद्देश्य का जीवन उनके निकट व्यर्थ था और दूसरों के अनुभवों से लाभ उठाने की वे बराबर हिमायत करते। वे कहते- आग जलाती है, यह जानने के लिए आग में उँगली देना कहाँ की दानाई है, आदमी दूसरों के अनुभवों-तज़रुबों से भी तो सीखता है।....दोयम दर्जे का काम भी करो तो उसे अव्वल दर्जे की कुशलता के साथ करो।...उस्ताद की जगह हमेशा ख़ाली है, तुममें दक्षता हो तो वहाँ जा बैठो। प्रतिभा की कमी मेहनत और लगन से पूरी की जा सकती है। आधे शक पर भी शब्द कोश देखने की हिदायत उन्होंने इतनी बार दोहरायी कि वह मेरे स्वभाव का हिस्सा बन गयी।...कुदरत अपने साथ की गयी ज्यादतियों को कभी माफ़ नहीं करती, वे कहते, और सुख और दुख दोनों स्थितियों में समभाव रहने की वकालत करते।

मुझे आज भी आश्चर्य होता है कि अपनी व्यस्त दिनचर्या में वे कैसे घर-परिवार के लिए समय निकाल लेते थे। शायद ही कोई दिन जाता हो जब वे दस-बारह घण्टे काम न करते हों। मगर इसके साथ उनकी नज़र घर की हर छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी घटना पर रहती। जीवन के नियम बनाना और घर को इन नियमों के आधार पर चलाना, उनके विचार में बहुत ज़रूरी था। कई बार मतभेद भी होते। इसका निपटारा भी अनोखे ढंग से होता। अक्सर वे अपनी राय ज़ाहिर करके आख़िरी फ़ैसला घर वालों पर या परिवार के सदस्य-विशेष पर छोड़ देते। व्यवस्थित जीवन उन्हें पसन्द था। बेमक़सद ज़िन्दगी जीना उन्हें ज़िन्दगी जैसी नेमत का अपमान करने जैसा जान पड़ता था। वे कहते थे कि आदमी को अपनी ज़िन्दगी का एक मक़सद तय करना चाहिए और उसे हासिल करने की दिशा में बढ़ना चाहिए। अगर परिस्थितयाँ प्रतिकूल हों और रास्ता भटक जाय तो भी जब तक मक़सद पर नज़र टिकी रहेगी, आदमी अपनी मंज़िल पा ही लेगा।

जब मैंने ख़ुद लेखक बनने का फ़ैसला किया तो उनकी हिदायतों का स्वरूप भी बदलने लगा। बिलकुल शुरुआती दौर में तो उनकी भूमिका गुरु जैसी ही थी और यह स्वाभाविक था। लेकिन कभी-कभी 'साहित्यकार' उपेन्द्रनाथ अश्क वाली अन्तर्धारा भी उभर आती और पिता की भूमिका के साथ जा मिलती। मैंने जब अपनी पहली रचनाएँ छपने के लिए भेजनी शुरू कीं तो अपने नाम के आगे 'अश्क' लिखना बन्द कर दिया। मुझे याद है, इससे पिता को एक झटका-सा लगा था। मानो मैंने अपनी विरासत का परित्याग कर दिया हो या पिता के रूप में उन्हें अस्वीकृत कर दिया हो। लेकिन मैंने उन्हें समझा दिया कि मैं अपने बल-बूते पर अपनी जगह बनाना चाहता हूँ। न तो मुझे विरासत से इनकार है, न पिता अथवा गुरु के नाते उन्हें अस्वीकृत करने की इच्छा। कुछ ही समय में उन्होंने इस फ़ैसले को तसलीम कर लिया और जैसे एक कुशल कारीगर अपने बेटे को अपना हुनर हस्तान्तरित करता है, उन्होंने मुझे भाषा और साहित्य की बारीक़ियों से परिचित कराना शुरू किया। धीरे-धीरे पिता, मित्र और गुरु की भूमिका के साथ-साथ उन्होंने एक सहकर्मी की भूमिका भी अपना ली और शुरू में जो साहित्यिक सम्पर्क इकतरफ़ा था, वह बाद में आदान-प्रदान का रूप लेने लगा। कैसी भी राय क्यों न हो, वे उस पर गौर करने के लिए हमेशा तत्पर रहते। उनका कहना था कि सुझाव कहीं से भी आये, यदि वह रचना को बेहतर बनाने की दिशा में ले जाता है तो उसे अपनाने से कोई गुरेज़ नहीं करना चाहिए। अपने अन्दर अच्छे-बुरे की तमीज़ पैदा करनी चाहिए और अपने विरोधी की भी अच्छी रचनाओं को सराहने का माद्दा विकसित करना चाहिए।

साहित्य पिता के लिए जीवन-सरीखा था। लिखने की इच्छा उनके अन्दर अत्यन्त बलवती थी और किन्हीं कारणों से जब उनका लिखना रुक जाता तो वे बेचैन होने लगते। अक्सर कहते कि अगर मैं लिखता नहीं तो मुझे ऐसा लगता है जैसे कि मैं जी नहीं रहा। महज़ धन के लिए लिखना उन्हें वेश्यावृत्ति सरीखा लगता था और यश के पीछे दौड़ना मरीचिका के पीछे भागने जैसा। हालाँकि लेखन ही उनके जीवन के अधिकांश में उनकी आजीविका का आधार था और यश भी उन्हें प्रचुर मात्रा में मिला था। यश और धन से उन्हें इनकार नहीं था, पर उन्हें वे लेखन की गौण उपलब्धियाँ मानते थे। इस पर भी, लेखकों के अधिकारों के लिए शायद जितनी लड़ाइयाँ साहित्यकार उपेन्द्रनाथ अश्क ने लड़ीं, उतनी उनके समकालीनों और परवर्तियों में भी बिरलों ने ही लड़ी होंगी। इसकी क़ीमत भी उन्होंने भरपूर चुकायी। अन्धे को नैनसुख कहना उन्होंने सीखा न था। जो कुछ ठीक समझते, साफ़गोई से व्यक्त करते। नतीजे के तौर पर विवाद और विरोध मोल लेते। फिर चूँकि लड़ाई में पीछे हटना उनकी आदत में शुमार न था, इसलिए विरोध तीखा हो जाता।

दूसरी ओर, नये-से-नये लेखक की रचनाएँ पढ़ना, उसे पत्र लिख कर राय देना वे अपना कर्तव्य समझते थे। कई बार हम उनसे कहते कि नये रचनाकार इस ख़ुदाई ख़िदमतगारी का बुरा भी मान सकते हैं। मगर वे सदा प्रेमचन्द और अपने सम्बन्धों का हवाला देते। कहते कि लेखन के आरम्भ में प्रेमचन्द ने एक अग्रज के नाते मुझे बहुत प्रोत्साहन दिया था, मैं उसी परम्परा को आगे बढ़ा रहा हूँ।

स्वभाव से यारबाश आदमी थे। खुली ज़िन्दगी जीने वाले। अपना सारा अच्छा-बुरा खोल कर रख देने वाले।। जब तक स्वास्थ्य साथ देता रहता, वे या तो लोगों को घर बुला लेते या फिर ख़ुद साथी रचनाकारों से मिलने चले जाते। उदार ऐसे थे कि अगर विरोधी भी कभी ज़रूरत में मदद माँगता तो इनकार न करते। लड़ाई उनके निकट हमेशा विचारों की थी। मतभेदों को वे साहित्य के मंच पर ही तय करने के हामी थे।

लेकिन धीरे-धीरे बदलती हुई सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों में वे अकेले होते चले गये। इलाहाबाद को उन्होंने सोच-समझ कर बसेरे के लिए चुना था। एक अर्से तक शहर साहित्य का केन्द्र

भी रहा। लेकिन फिर यहाँ का मेला उठने लगा। लोग बाहर से आ-आ कर यहाँ बसने की बजाय, दिल्ली और भोपाल की तरफ़ भागने लगे। जो लोग यहाँ रह गये थे उनके आपसी सम्बन्धों में, मिलने मिलाने में, महफ़िलों और गोष्ठियों में दूरी बढ़ने लगी। पिता धीरे-धीरे सिमटते चले गये। उन्होंने अपने आप को सिर्फ़ अपने लिखने-पढ़ने तक सीमित कर लिया। रही-सही कसर गिरते हुए स्वास्थ्य, आर्थिक कठिनाइयों और पारिवारिक बिखराव ने पूरी कर दी।

वे हमेशा ही से संयुक्त परिवार के समर्थक रहे थे। ख़ुद अपने परिवार को उन्होंने संयुक्त बना रखा था और इसके लिए कुछ नियम बनाये थे। लेकिन जीवन के अन्तिम दिनों में उन्होंने इन नियमों का उल्लंघन भी देखा। पहले का ज़माना होता तो वे इसे कभी बरदाश्त न कर पाते। लेकिन टूटते हुए स्वास्थ्य और आसन्न मृत्यु ने उन्हें विवश कर दिया था। वे पिछले पचास वर्षों से अपना वृहद उपन्यास एक-एक खण्ड करके बढ़ाते जा रहे थे। अन्तिम खण्ड लिख रहे थे और शायद इसीलिए ऐसी बहुत-सी बातें नज़रअन्दाज़ करने लगे थे, जो पहले कभी न करते।

कहीं-न-कहीं इस उपन्यास को वे अपनी ज़िन्दगी से जोड़ कर देखने लगे थे। वे कई बार कह चुके थे कि इस उपन्यास को पूरा किये बिना मैं मरने वाला नहीं। इसलिए उसे तत्काल पूरा करने की बजाय आगे बढ़ाये जाने के पीछे शायद यह भावना रही हो कि इस प्रक्रिया में वे अपनी ज़िन्दगी को भी बढ़ाते चल रहे हैं। ज़ाहिर है इस क्रम में बहुत कुछ उलट-पुलट गया था। मेरा उनसे आख़िरी मतभेद इन्हीं बातों को ले कर हुआ था। मेरा कहना था कि उन्हें बिना वक्त खोये अपना उपन्यास पूरा कर लेना चाहिए, जिससे वे व्यर्थ के तनाव से मुक्त हो सकें। यही नहीं, बल्कि उन्हें अपने परिवार के सिलसिले में भी अपनी पुरानी टेक और सपनों में बदलते हालात की रोशनी में तरमीम करनी चाहिए। मनुष्यों की आयु की तरह संयुक्त परिवारों की भी आयु होती है और जब उनके नियमों में शिथिलता आने लगे तो वास्तविकता को स्वीकार करके संयुक्त परिवार को भंग कर देना चाहिए। हो सकता है इससे कुनबे के लोग साथ-साथ घुटने की बजाय अलग-अलग साँस ले सकें। वे मुझ पर बहुत ख़फ़ा हो गये थे। अर्से तक उनसे एक अबोला-सा रहा। मैं ख़ुद उन दिनों उनके एकांकियों पर दूरदर्शन के लिए एक धारावाहिक बनाने में जुटा हुआ था और ख़ासे तनाव और मुश्किलों से गुज़र

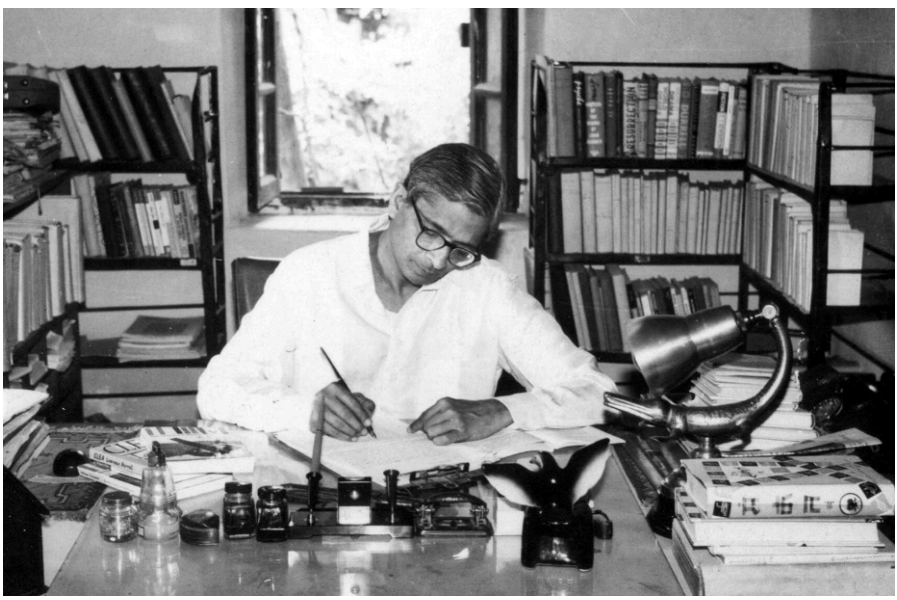

रहा था। कई बार दिल में ख़याल आता कि मुझे उनके साथ फिर से पहले की तरह बैठ कर सम्बन्ध सुधार लेने चाहिए। तमाम मतभेदों के बाद भी हमारे बीच सहमतियों का एक बहुत बड़ा आधार और इतिहास था। लेकिन मैंने अपने इरादे को धारावाहिक पूरा होने तक मुल्तवी कर रखा था। मैंने सोचा था कि धारावाहिक के जंजाल से मुक्त हो कर मैं कुछ समय उनके पास गुज़ारूँगा और उनके जीवन की इस तपती सन्ध्या बेला में कुछ छाया की व्यवस्था करूँगा। लेकिन तभी, जब धारावाहिक पूरा होने के क़रीब था, वे अस्वस्थ हो गये। पहले कूल्हे की हड्डी टूटी, फिर बिस्तर पर लेटे रहने की वजह से तमाम रोग, जो नियन्त्रण में रहते थे, सहसा बेक़ाबू हो उठे। सारी उमर वे सख्त-से-सख्त बीमारी से जम कर लोहा लेते रहे थे। यहाँ तक कि समूचे साहित्यिक संसार में उनकी बीमारियों को ले कर क़िस्म-क़िस्म के चुटकुले, लतीफ़े और क़िस्से मशहूर थे। अक्सरहा लोगों ने उनकी बीमारियों के सिलसिले में ख़ासी निर्ममता और संवेदनहीनता से फ़िकरे भी कसे थे। लेकिन हम परिवारवाले ही जानते थे कि कैसे वे रात-रात भर टहलते हुए गुज़ार देते हैं। दमे, गठिया, प्रोस्टेट और दूसरी शारिरिक गड़बड़ियों ने उन्हें कैसे जकड़ रखा है। इसके बावजूद, जब तक वे कूल्हे की हड्डी टूटने की वजह से बिस्तर की क़ैद भुगतने को मजबूर नहीं हुए थे, उन्होंने सारी जकड़बन्दियों को नज़रअन्दाज़ करते हुए जीने और लिखने का रास्ता निकाल लिया था। 'क़ैद-ए-हयात-ओ-बन्दे-ग़म अस्ल में दोनों एक हैं, मौत से पहले आदमी ग़म से नजात पाये क्यों' - वे ग़ालिब का शेर दोहराते और बीमारी के हर दौर के बाद फिर उठ कर खड़े हो जाते। लेकिन यह आख़िरी मरहला जान-लेवा साबित हुआ तो इस में भी उन्होंने आसानी से अपनी गिरफ्त ढीली नहीं की। आख़िरी दिनों में उन्होंने बेइन्तहा तकलीफ़ पायी और लगभग नीम-बेहोशी की हालत में धीरे-धीरे एक डूबते हुए जहाज़ की तरह विलीन हो गये। उनसे सुलह-सफ़ाई की इच्छा तो क्या पूरी होती, अन्त समय में क़ायदे से विदा लेना भी सम्भव नहीं हो पाया।

अश्क़ के चित्र श्री नीलाभ के सौजन्य से

मधुर गायन के लोक सर्जक

गंगा प्रसाद विमल

गोपाल सिंह नेपाली स्वतन्त्रता से पूर्व उभरने वाले ऐसे कवियों में स्वीकार किए जाते हैं जो स्वाधीनता के बाद एक गीतकार के रूप में प्रतिष्ठित हुए। कवि से गीतकार की प्रतिष्ठा का यह रूपान्तरण कई प्रश्नों के उत्तर अपने में समोये हुए है। इसका एक पक्ष यह भी है कि अनेकानेक ऐसे रचनाकार जो गीतकारों के रूप में, उस काल के साहित्यिक मंचों से साहित्य जगत में प्रतिष्ठा अर्जित करते हुए अपना अलग 'स्पेस' कायम करने में लगे हुए थे सहसा मुक्त कविता की ओर आकर्षित हुए और नयी कविता धारा के अग्रणी कवियों के रूप में प्रतिष्ठित हुए। एकाध कवि-गीतकार ऐसे भी हैं जो स्वाधीनता से पहले कवि-गीतकार थे, स्वाधीनता के बाद भी कवि-गीतकार ही बने रहे किन्तु अपनी धारा के प्रवर्तक के रूप में ख्यात होने के कारण कवियों की दुनिया में समाहत रहे। बच्चन जी को ऐसे ही कवि के रूप में देखा जा सकता है। बहुतेरे ऐसे गीतकार गीत जगत के सर्वेसर्वा बने रहे- ऐसे लोग स्वाधीनतापूर्व भी गीतकार थे स्वाधीनता के बाद भी गीतकार रहे। गीतकार नीरज का नाम ऐसे गीतकारों में सबसे पहले लिया जा सकता है। गीत की दुनिया में, वह भी जब स्वतन्त्र भारत में नई पैदा हुई गीत प्रतिभाओं ने स्वयं को गीत-संसार में नये प्रयोग करते पाया तो स्वयं को परम्परागत गीत से नये गीत रचने के कारण 'नवगीत' धारा से जोड़ना आरम्भ किया। इस बीच व्यावसायिकता के दबाव के कारण, मंच से विदूषकों के जुड़ने के कारण गंभीर गीतकर्मियों ने स्वयं को मंच से भी दूर रखना आरम्भ किया और जो स्वाधीनता से पूर्व और स्वाधीनता के बाद गीत को प्रतिष्ठा हासिल थी उसे कायम रखने के लिए चुपचाप गीतकर्म के सृजनात्मक पक्ष को साहित्यिक गीतों की परम्परा में ढालने की सक्रियता बरतते रहे। ऐसे समय में गोपाल सिंह नेपाली को उनके शताब्दी वर्ष में फिर से देखने की साहित्यिक जरूरत इसलिए भी है। गीत विधा को लेकर जो नई-नई तब्दीलियाँ आ रही थीं उन पर भी अभी तक गंभीर रूप से नहीं कहा गया था। खासकर फिल्मों ने गीतों की लोकप्रियता को जो नई ऊँचाई दी थी उससे हिन्दी भाषा के फैलाव में जबर्दस्त क्रियाशीलता दिखाई दे रही थी। आज़ादी के पहले और आजादी के बाद हिन्दी की स्थिति कुछ ऐसे ही देखी जाती थी जैसे राष्ट्रीयता, देश-प्रेम और जातीय निष्ठा के लिए वह आवश्यक हो। हिन्दी की इस स्थिति के निर्माण में फिल्मी

गीतों को नहीं भूला जा सकता।

इसमें संदेह नहीं कि गीतों ने भाषिक प्रसार को एक नया आयाम दिया था। फिल्मों की लोकप्रियता के संदर्भ में ही बात करें तो मंचीयगीतों की एक अपनी अलग लोकप्रियता भी तेजी से विकसित हो रही थी। आज़ादी के बाद तो लाल किले का कवि सम्मेलन एक ऐसी परिघटना के रूप में उपस्थित था, जिसे बेजोड़ ही कह सकते हैं। वाचिक परम्परा के उत्थान की वह सर्वोत्तम कल्पना ही कही जा सकती है। जिस दौर में दृश्य माध्यम नहीं था, श्रव्य-माध्यम की वह प्रस्तुति भारतीय मन को साहित्य से जोड़ती थी, यह याद रखने योग्य तथ्य है कि सभी लोग लाल किला नहीं पहुँच सकते थे किन्तु आकाशवाणी के प्रयत्नों से वह कार्यक्रम भारत के हरेक हिन्दी प्रेमी या कहें भारत प्रेमी के घर में लोकप्रिय था। आश्चर्य का विषय यह है कि वह कार्यक्रम स्वतन्त्रता दिवस के दिनों ही प्रसारित होता था और उस कार्यक्रम पर राष्ट्रीय दैनिकों तथा पत्र-पत्रिकाओं में बराबर सूचना, विश्लेषण और विमर्श प्रकाशित होता था। यह एक ऐसा दौर था जब मुद्रित शब्द के प्रति पाठकों की ललक का समूचा रुझान साहित्यिक किस्म का था। साहित्यिक कहने का अर्थ ही यह है कि मंचों से प्रसारित होने वाले गीत या आकाशवाणी से प्रसारित होने वाले संगीतमय गीत या फिल्मों में प्रयुक्त गीतों के रिकार्ड या उनको दुहराने वाले कार्यक्रमों में उनकी भाषिक या वस्तु संबंधी चित्राओं पर केवल साहित्यिक किस्म के लोग विवेचना नहीं करते थे बल्कि उसे समसामयिक कविता का ही एक रूप समझने की परम्परा थी। गोपाल सिंह नेपाली के बहुतेरे गीत उस काल में साहित्यिक गीतों के रूप में ही स्वीकार किये जाते थे।

नेपाली का पहला काव्य-संग्रह १९३४ में प्रकाशित हुआ था। १९३५ में उनका 'रागिनी' संग्रह प्रकाशित हुआ। १९६२ में 'रागिनी' का नया संस्करण भी प्रकाशित हुआ। 'ज्ञान प्रकाशन' ने 'उमंग' का नया संस्करण १९७० में पुनः प्रकाशित किया जो पहले ऋषभचरण जैन तथा संतति द्वारा प्रकाश में आया था। नये संस्करण में ऋषभचरण जैन का नेपाली जी के साथ चित्र भी प्रकाशित हुआ है। ''पंछी'' और ''नवीन'' शीर्षक दो संग्रह उनके लेखन की आरम्भिक अवधि में ही प्रकाशित हुए थे। उनके पहले संग्रह से ही साहित्य के प्रति अटूट जुड़ाव के उनके भाव उभरते हैं। इसी कारण साहित्य के प्रति उनकी ललक सामान्य लोकप्रियता की महत्वाकांक्षा द्योतित करने वाली नहीं है। रागिनी की भूमिका से स्पष्ट होता है कि वे विलक्षण घुमक्कड़ भी थे। उनके प्रकाशित अंश में स्वीकारोक्ति है कि ''पेशावर भी देख आया हूँ। मां और कहीं, पिताजी जर्मनी की लड़ाई में, मैं और मेरा छोटा भाई पेशावर में।'' उनके जीवनी प्रसंगों में भारत के विभिन्न क्षेत्रों में उनके घूमने के जिक्र हैं। देहरादून तथा शिवालिक व हिमालय के प्रति उनके मोह का ही परिणाम है कि वे उन क्षेत्रों से अपने सृजन की वस्तु सम्पदा के प्रति अनेक अवसरों पर कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। कविता की ओर प्रेरित होने की स्वीकारोक्ति भी रागिनी की भूमिका में उपलब्ध है। अपने माता-पिता से अलग रहने के कारण जो अलगाव था, उसका बोध होने के कारण ही उन्होंने लिखा है कि... ''छुटपन में इसी विरह ने कविता की तुकबन्दी सिखलाई होगी- ऐसा याद करता हूँ।'' प्रियजनों से विछोह का त्रासद अनुभव उन्हें ठेठ बचपन में मिल गया था। २५ अप्रैल १९३५ को प्रकाशित उनकी भूमिका में गरीबी का भी उल्लेख है। उनका यह प्रकरण कई अर्थों में महत्वपूर्ण है। १९३५ का समय भारतीय राजनीति की भावी दिशाओं को तय करने वाला था। एक चौबीस साल के युवक में एक ओर सृजनेच्छा का प्रबल जोर, भारत के स्वाधीनता आन्दोलन में तेज़ी के कारण मुक्ति संग्राम की आँच का अनुभव आदि कुछ ऐसे बिन्दु हैं जो कवि की भावधारा को प्रभावित कर रहे हैं। भूमिका में ही गरीबी और लड़कपन की उनकी आत्मस्वीकारोक्ति- ''गरीबी बड़ी प्यारी चीज़ है। वह भी लड़कपन था, ...'' एक तरह से उस साहित्यिक दृष्टि के मूलाधारों में निहित हैं जो बाद में चलकर विकसित होते हैं। देशाटन और कोई

अनाम सी भटकन जैसे वस्तु के तारतम्य में प्रवाहित हो रही हो-

''कितनी मंज़िल, कितनी गलियाँ, लेकिन अपनी राह अलग
दुनिया बड़ी दूध की धोई, दर्दे दिल की राह अलग।''

तथापि मुक्ति संग्राम में सभी विश्वासों, जातियों और वर्गों की एकजुटता कवि की अलग राह को मुख्यधारा की ओर मोड़ने में सक्षम है। वे कह उठते हैं-

''तिल तिलकर हिन्दू जलता है, दिल की आग मुसलमानी
यह खैबर का रहने वाला, लाया गंगा का पानी।''

नेपाली के आरम्भिक संग्रह की ये कविताएँ एक भावुक किशोर की अभिव्यंजनाएँ लगती हैं किन्तु इनसे यह तो स्पष्ट है कि वे सजग होकर उस तप्त समय के अनुभव को अपने गीतों में ढालने के कार्य में सक्रिय हैं। तथापि उनकी ख्याति के कारणों की ओर अगर देखें तो उनमें गीतिपरकता का सम्मोहन अधिक है जिसके रहते वे अन्य गीतकारों और संगीत का आधार लेकर रचने वालों और शुद्ध साहित्यिक वृति संपोषित करने वालों से अलग हैं। 'पंछी' संचयन की भूमिका में कविवर सूर्यकांत त्रिपाठी निराला ने उनके इस गुण को ही लक्षित कर लिखा है, ''इधर दो वर्षों से नवीन तारकों के सदृश जितने कवि हिन्दी के काव्याकाश में चमकते दिखाई पड़े, सौन्दर्य के सुख-स्पर्श जादू से जिन्होंने मन को वशीभूत कर लिया तथा प्रकाश और दृप्ति दी, गोपाल सिंह नेपाली उन्हीं में से एक हैं। मुझे उनके काव्य में शक्ति, प्रवाह, सौन्दर्यबोध तथा चारु चित्रण एक विशेषता लिए हुए दीख पड़े।'' १९३४ में लिखी इस भूमिका से नेपाली का हिंदी काव्य में प्रवेश एक घटना से कम नहीं है जिसे उस काल के प्रसिद्ध और अग्रणी हस्ताक्षर स्वीकार कर रहे थे।

उसी कालखण्ड में सुमित्रानंदन पंत भी नेपाली की सराहना करते हुए कहते हैं, ''आपकी कविताएँ मुझे विशेष प्रिय हैं। आपकी प्रतिभा के आलोक से मैं बहुत पहले से परिचित हूँ। आप सरस्वती स्नेह, सहृदयता और सौन्दर्य की सजीव प्रतिमा हैं। आपका कविकंठ निर्मल निर्झर के समान अवश्य ही मंसूरी की तलहटी में फूटा होगा...''

कविवर नेपाली अपने युवाकाल में ही अपने मधुर काव्य पाठ की शैली के कारण लोकप्रिय हो चुके थे। १९३२ के काशी नागरी प्रचारिणी सभा के द्विवेदी अभिनन्दन उत्सव में उनकी भागीदारी पर 'आज' दैनिक ने सराहना भरी टिप्पणी की थी। नेपाली जी के काव्य पाठ से प्रभावित हो कर दुलारे लाल भार्गव ने उन्हें 'सुधा' के सम्पादकीय विभाग में नियुक्ति दी थी। गोपाल सिंह नेपाली की गांधी जी से हुई भिड़न्त उन्हें दन्तकथाओं के नायकों की तरह उभारने वाली घटना है। १९३५ के भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में वे मालवा के प्रतिनिधि मण्डल के नेता बन कर गये थे। मालवा क्षेत्र में वे 'रतलाम टाइम्स' निकालने में सक्रिय थे, इस कारण मालवा के प्रतिनिधि मण्डल की उपेक्षा से वे क्षुब्ध थे। गांधी जी चर्खा और खादी सम्बन्धी अपने कार्य के कारण प्रस्तावित चुनाव की ओर ध्यान नहीं दे पाये। नेपाली जी की क्षुब्ध टिप्पणी ने उन्हें सजग किया और उस वर्ष के चुनाव में सबसे अधिक मत नेपाली जी को ही मिले। नेपाली जी की जीवनगाथा संघर्षों की जीवन गाथा है किन्तु उन संघर्षों के बीच वे अपने कवि कर्म के प्रति भी अत्यन्त सजग और सक्रिय रहे।

उस काल के सभी कवियों से उनके अन्तरंग सम्बन्ध थे किन्तु कुछ ही बरस बाद वे फिल्मी दुनिया में चले आए और अपनी लोकप्रियता से फिल्म उद्योग में एक गीतकार के रूप में अत्यन्न सफल और प्रतिष्ठित हुए। यह वही दौर है जब हिन्दी-उर्दू के अनेक ख्यातनामा रचनाकार फिल्मी दुनिया में गीतों का परचम लहराने लगे। फिल्मी दुनिया में उनकी कामना फिल्म निर्माण की थी और

इसकी चर्चा उन्होंने अपने पत्रों में अपने स्वजनों और मित्रों से की थी। फिल्म निर्माण एक व्यय साध्य कार्य है। आज नेपाली जी की इस कामना का विधिवत विश्लेषण किया जा सकता है। मुख्य रूप से निष्कर्ष यही हाथ आता है कि गीत और कविता से उतना धन अर्जित नहीं किया जा सकता जितना फिल्म निर्माण द्वारा। तथापि उनकी यह कामना इस अर्थ में पूरी न हुई कि वे अतिरिक्त धन प्राप्त करते। उनके अनेक समकालीन इस दिशा में आंशिक सफल भी हुए। यह एक ऐसा पक्ष है जिसे आज हम कई दृष्टियों से परख सकते हैं। सामान्य रूप से भारतीय जन की स्थितियाँ अत्यन्त विकट थीं। वह राजनैतिक रूप से दास तो था ही उसके दासत्व का फैलाव भारतीय जन के मनोलोक में भी निवसित था। दासता के इस पराभाव से लड़ने का कार्य अनेक स्तरों पर विभक्त था। गोपाल सिंह नेपाली उसे केवल कविता के मोर्चे पर लड़ने के लिए तत्पर थे-

"बोलेगा पतितों, दलितों के
गरम लहू का क़तरा
होंगे भस्म अग्नि में जलकर
धरम-करम और पोथी-पतरा"

वह लड़ाई भीतर के नासूर से भी थी जो सामाजिक दायरों में लोगों को बाँटता है और लड़ाई बाहर से भी थी जिसने सामन्तवादी चक्र से केवल साम्राज्यवादी चक्र में दासता के नरक का निर्माण किया था। नेपाली की अनेक कविताएँ इस दृष्टि से उद्घृत की जा सकती हैं। उनकी उस काल की प्रसिद्ध कविताओं में "नौजवान जाग रे" जैसा उद्बोधन गीत आज भी अनेक पाठकों की स्मृति में होगा। उनके ये गीत गेयता के सभी गुणों से सिक्त हैं तथा एक ही पंक्ति की अनेकार्थी व्यंजना होने के कारण उनमें वस्तुगत वैविध्य भी संरक्षित है। उल्लास और उद्बोधन उनके दो मुख्य भाव हैं जिनके बीच वे अपने अन्य विषयों का ताना-बाना भी रचते हैं। एक भाव प्रवण कवि होने के नाते उन्होंने मृदुल, मंजु विधान के भीतर ही अपनी समस्त रचनाओं को वाणी दी है। परन्तु मुख्य लक्ष्य एक ऐसे कवि के रूप में स्थापित होने से जुड़ा था जिसके लिए वे सतत नये से नये प्रयोग करने से नहीं हिचकिचाते थे। इस दृष्टि से नेपाली की कविताओं में हम वैविध्य देखते हैं और यही एक आधार है जहाँ से हम यह सूचना भी हासिल करते हैं कि नेपाली का मन बराबर अपने 'देहात-टोले' की ओर भटकता था। कवि के भावजगत में अपने क्षेत्र के प्रति इस अनुरक्ति की व्याख्या अवश्य की जानी चाहिए, इसलिए कि भावात्मक रूप से एक भावाकुल कवि का आत्मनिवेदन अतिरिक्त भावुकता को ही जन्म देता है। वह यदि व्यक्तिशः कवि के जीवनी प्रसंगों में कुछ जोड़ती घटाती है तो उसे हम कवि के सामाजिक संदर्भों से, फिर थोड़ा निर्वैयक्तिक पक्षों से, संसिक्त मानकर कवि के सामाजिक परिवेश की स्थितियों को देखने लगते हैं अन्यथा भावुकतापूर्ण सृजन प्रलाप की तरह शेष रह जाता है। इस दृष्टि से नेपाली की कविताओं पर विचार करते हुए उनकी कुछेक कविताएँ महत्वपूर्ण कही जायेंगी-

जग रास रचाए जाता है, जग हास बिछाये जाता है,
क्षण भी आनन्द विलासों की, नग धूम मचाए जाता है!
मैं जग के दुःख में शामिल हूँ,
सुख-सपनों का संसार लिए।

भावुक कवि की पक्षधरता एक ऐसा पड़ाव है जहाँ से हम उसके जीव जग़त प्रतिबद्ध रेखांकों को पहचानते हैं। उनकी कुछ प्रसिद्ध गीतपरक रचनाएँ श्रोताओं में बहुत लोकप्रिय रही हैं। उनकी

सांकेतिक शक्ति का ही यह चमत्कार है कि वे आज भी अपने अर्थ-संदर्भों में नित्य नूतनता लिए हुए हैं।

बदनाम रहे बटमार मगर घर तो रखवालों ने लूटा,
मेरी दुल्हन-सी रातों को नौलाख सितारों ने लूटा।।

संगीत छिड़ा है सिक्कों का, फिर मीठी नींद नसीब कहाँ?
नीदें तो लूटी रुपयों ने, सपना झंकारों ने लूटा।।

इसी तरह उनके कुछ दूसरे लोकप्रिय गीत हैं, ''दिल चुराकर न हमको भुलाया करो'' या ''दो तुम्हारे नयन'' या प्रबन्धात्मकता का अनुभव देने वाली कविता ''बाबुल तुम बगिया के तरुवर'' जैसी कुछ गीत कविताएँ हैं, जिनमें हम उनके उन संकेतों को पाते हैं जो ज्यादा अर्थपूर्ण, काव्यमय और प्रेरणाप्रद हैं। पंचमी की कुछ कविताओं में तो अपने भावों को उन्होंने भावुकता के दायरे से एकदम नये अर्थों के साथ अर्थवान कविता के रूप में संयोया। ''उड़ा दे आज हवा में पाल/लहर की ललकारों की ओर।'' इस तरह के प्रयोगों को केवल प्रबोधन गीतों की तरह नहीं देखा जा सकता अपितु उसे साहित्यिक गीतों की परम्परा में ही देखना होगा।

नेपाली उस अर्थ में जन-गायक नहीं हैं जिस अर्थ में हम उनके समकालीन नागार्जुन या प्रतिबद्ध कवि शील या दूसरे कवियों को स्वीकार करते हैं तथापि एक कवि के रूप में उनकी कविताओं में विद्रोह के संकेत जन गायन के ही निकट जान पड़ते हैं। नेपाली के काव्य में इसीलिए किसी एक रेखीय उत्कर्ष या किसी एकपक्षीय बोध का रूप नहीं उभरता अपितु वे मनुष्य की सर्वपक्षीय वृति के कवि हैं और इसी कारण उन्हें किसी लोकांचलीय परिसीमा में भी समेटना कठिन है तथा गेयता के लक्ष्य से कहना होगा कि उनकी कविताओं में लयात्मकता का अनुशासन है और गेयता की परिभाषाओं के अनुरूप ही उनकी छन्दमुक्त कविताओं में पदान्तों की नये ढंग की पुनरावृति है जो गेयता के संगीतात्मक अनुभव से जुड़ी हुई है। उन्होंने विभिन्न प्रकार के गीत रचे हैं। रूमानी और श्रृंगारिक या श्रृंगारपरक गीतों में उन्होंने पर्याप्त प्रयास किए हैं तथा उन्हें अपनी भावनात्मक पकड़ के भीतर ही रखा है तथापि प्रयोग के स्तर पर स्पष्ट हो जाता है कि वे जन गायक की जगह लोक गायक के रूप में प्रकृति के सर्वांग को चित्रित करते हैं। वस्तु चयन की दृष्टि से भी देखें तो उनके त्रास की सरहद के भीतर पशु-पक्षी, वनस्पति-आकाश अन्तरिक्ष सब कुछ है और उसे वे गायन की सुमधुर पद्धति में प्रस्तुत करते हैं। मोटे तौर पर उनके गायन की शैली प्रभाव छोड़ने वाली थी और अधिसंख्य उनके श्रोता उनके सुमधुर गायन से प्रभावित और प्रेरित होते थे। यह स्वयं स्थापित है कि वे गीतों के गायन में अपनी प्रस्तुतिकरण की विशेषता के कारण ख्याति की अपार ख्याति वाले खाँचे में गिने जाते हैं। परन्तु जैसा पहले से ही स्वीकार किया गया है गोपाल सिंह नेपाली अपने समय के एक महत्वपूर्ण गीतकार थे। उन्होंने गीत की गायन परम्परा को अपने ही ढंग से पुष्ट किया था। उनके प्रसिद्ध गीत ''बाबुल तुम बगिया के तरुवर'' को ही दृष्टान्त के रूप में लें तो व्यथा और त्रास का केन्द्र चाहे बहुत सीमित है परन्तु उसकी तीव्रता इतनी सघन है कि वह सबके अनुभव का हिस्सा बन जाता है।

आज गोपाल सिंह नेपाली के गीतों की व्याख्या करते हुए यह कहने में संकोच नहीं है कि गीत में गीति तत्व की उपस्थिति के लिए उन्होंने जिन युक्तियों का सहारा लिया था वे युक्तियाँ कुछ सीमित विषयों से सम्बन्धित रही हैं। बहुधा गीत संयोजन के लिए जो पद्धति स्वीकार की जाती है उसमें छंद के बंधनों के लिए समझौते अनिवार्य हो जाते हैं। इसकी तुलना में गेय पदों के रूपान्तरण में गायन शैली का प्रभाव है। नेपाली जी के फिल्म उद्योग से हुए आरम्भिक अनुबन्धों में 'गेयता' के संगीतकारों

के अनुदेशों का उस कड़ाई से पालन नहीं किया जो कालान्तर में अन्य गीतकारों ने किया है फिर भी उसे श्रव्य-दृश्य माध्यम की जरूरतों की अनुरुपता के अन्तर्गत लेते हुए मानना ही पड़ेगा कि माध्यम के साथ समझौतों के कारण नेपाली जी ने गीत को क्षति नहीं पहुँचने दी। तथापि ऐसे गीत नेपाली के पास भी गिने-चुने हैं जो लोकाधारी गीतों की तरह सार्वजनिक हैं। वस्तुरूप में सार्वजनिक।

स्त्रीत्व की भाषा और तरेड़ खाई केतली : कृष्णा सोबती के बहाने

मृदुला गर्ग

गस्तॉव फ्लॉबेयर ने कहा था, 'भाषा एक तरेड़ खाई केतली है, जिस पर हम भालुओं को नचाने के लिए ताल देते हैं और चाहते यह हैं कि आसमान के सितारे एक करुणा से पिघल जाएं।' साहित्य लेखन की कला को साधने की कोशिश करने वालों की यही विडम्बना है कि उन्हें अपनी कला को परवान चढ़ाने के लिए, रोज़मर्रा इस्तेमाल किये जाने वाले औज़ार का प्रयोग करना पड़ता है। अन्य कलाकार विशिष्ट माध्यमों का उपयोग करते हैं, चित्रकार, मूर्तिकार, संगीतकार, सब। चित्रकार दाँत माँजने के ब्रश से चित्रकारी नहीं करता, मूर्तिकार बढ़ई के हथौड़े का प्रयोग नहीं करता, संगीतकार, लोटे या पतीले पर राग नहीं बजाता। पर लेखक के पास केवल शब्द होते हैं। शब्दों से बनी वही भाषा होती है, जो रसोई से लेकर बूचड़खाने तक उपयोग में लाई जाती है। कुछेक नये शब्दों को हम भले ईजाद कर लें पर ज़्यादातर, बार-बार इस्तेमाल से घिसे-पिटे शब्दों को नये अर्थ देकर, अपने ख़ास अंदाज़ में इस्तेमाल करके ही, नई सर्जित भाषा बनानी पड़ती है। आम बोलचाल की भाषा से पात्रों की भाषा एकदम अलग नहीं हो सकती। हुई तो पाठक पात्र से एकात्म नहीं होंगे। मतलब यह कि लेखक जो लिखे वह अलग हो तब भी लगे कि नहीं है। यह जानते हुए कि भाषा की केतली में तरेड़ है उसी पर धुन बाजाता जाए। तमाम जागरूकता के बावजूद, यह भ्रम पाले रहे कि जो वह कहेगा, मोहपाश में ले, पढ़ने वालों को द्रवित करके रहेगा।

कृष्णा सोबती की भाषा की रवानी को देखकर पहले-पहल लगता है, उस केतली में कहीं तरेड़ नहीं है। अनेक आलोचक उस लच्छेदार-मुहावरेदार रवानी के मुरीद हैं पर ज़िन्दगी के सफ़र में भाषा की केतली तिड़के बग़ैर रह जाए, यह नामुमकिन है। हाँ, कृष्णा सोबती ने उसकी मरम्मत इस शिद्दत के साथ की है कि वह असल मतलब को दबाने का काम, उसी खूबी से करती है, जिससे उसे खोलने का। एक उदाहरण देती हूँ। जैनेन्द्र जी ने एक बार कहा था, कृष्णा सोबती के साहित्य में सैक्स का जश्न है। मैंने पढ़ कर देखा तो महसूस किया, जश्न सैक्स का नहीं, भाषा का है। उन्होंने 'मित्रो मरजानी', 'सूरजमुखी अँधेरे के', 'बादलों के घेरे' आदि में स्त्री की सैक्सुऑलिटी पर लिखा ज़रूर है पर उसमें जो रोमानी जश्न का समां बँधता है, वह भाषा की वजह से है। कथ्य की गहराई में पीड़ा का

बोध कुण्डली मारे बैठा रहता है। अगर वाकई जश्न सैक्स का होता तो मित्रो, आशिक़ के पास जाते-जाते पति के घर-द्वार लौट न आती। मित्रो के भीतर जो औरत साँस ले रही है, वह एक ज़िन्दादिल पारिवारिक स्त्री है। पारम्परिक भी। और क्यों न हो। भावात्मक लगाव में कैसी परम्परा और कैसी आधुनिकता? निजी चुनाव का मसला है। जो एक के लिए पारम्परिक है, दूसरे के लिए आधुनिक। घर-द्वार से लगाव के संस्कार को सेक्सुऑलिटी के उद्दाम प्रदर्शन से ढाँपने का काम, उस भाषा ने किया, जो लॉबेयर के कथन को सही ठहराती है। यानी केतली तिड़की है इसीलिए कथा को सजग निर्मिति बनाने से बचा ले जाती है। सोबती जी भाषा को ले कर सजग है; खूब-खूब सजग हैं, फिर भी वह श्लेष-विडम्बना-द्वन्द्वसे सम्पूर्त रचना लिख जाती हैं, क्योंकि भाषा की केतली की तरेड़ कथानक में छिपी पीड़ा को बाहर छलका देती है। लेखन में निहित माध्यम की यह अपूर्णता साहित्य-रचना की विशिष्टता है तो उस माध्यम का उत्सव, स्त्रीत्व की भाषा की विलक्षणता। क्या है यह स्त्रीत्व की भाषा? कृष्णा सोबती के कथा साहित्य में प्रयुक्त स्त्रीत्व की भाषा, कथ्य और शिल्प दोनों को समेटे हुए चलती है। पर उसका ताल्लुक, लेखक के खुद स्त्री होने से क़तई नहीं है। इस कथन में किसी किस्म का अन्तर्विरोध नहीं है।

उसका विवेचन करने से पहले आज की वस्तुस्थिति पर एक टिप्पणी ज़रूरी है। आजकल हमारे यहाँ वाद-विवाद जितना होता है, संवाद उतना ही कम। मुझे लगता है, यह संस्कृति के अवमूल्यन का एक चिह्न है, क्योंकि हमारी परम्परा में तो धर्म ग्रन्थ का दर्जा पाई भगवद् गीता तक संवाद है। किसी समस्या का निराकरण ढूँढते हुए भी क़ायदा था कि पहले छोटे वय व पद के लोगों की राय ली जाती थी, बाद में ''बड़े'' लोगों की, जिससे वे स्वतंत्र राय देने में संकोच न करें। फिर क्या हुआ कि हमने अपनी इस परम्परा का त्याग कर दिया?

इस अवमूल्यन का सम्बन्ध वैश्वीकरण या उत्तर आधुनिकता से नहीं है। वह उससे बहुत अरसा पहले होना शुरू हो गया था। कई कारण हो सकते हैं। पर एक महत्वपूर्ण कारण, मुझे यह लगता है कि ब्रितानिया हुकूमत के दौरान, हमारे भीतर एक ज़बरदस्त हीन भावना पनप गई। उससे उत्पन्न कुण्ठा का प्रतिकार करने का एक ही तरीका हमें मिला। वह यह कि जो भी उम्र या पद-पदवी के लिहाज़ से हमसे कमतर हो या हमारे मातहत हो, उस पर वही तानाशाही करें, जो सत्ताधारी हम पर कर रहे थे। तानाशाह, तथाकथित कमतरों को सवाल करने की इजाज़त नहीं देता क्योंकि उसे डर होता है कि उसकी असलियत खुल न जाए।

मेरे ज़ेहन में यह विचार कुलबुला रहा था कि कृष्णा सोबती का उपन्यास 'ज़िन्दगीनामा' हाथ लग गया। पढ़ना शुरू किया नहीं कि अपने सोच की रचनात्मक पुष्टि उसमें मिल गई। ऐसे बौद्धिक संयोग होते रहते हैं। उनमें मेरी भाग्य या विधि के विधान से अधिक आस्था है।

ज़िन्दगीनामा के शुरुआती पन्नों में ''लालाजी'' एक आख्यान सुनाते हैं। उसके बीच में जब भी कोई बच्चा जिज्ञासावश कोई सवाल कर बैठता है तो तुरंत कोई वयस्क, उसका कान मरोड़ कर या हाथ के इशारे से डरा कर, रोक देता है। यानी सुनो, सीखो पर सवाल मत करो।

मैं मान कर चल रही हूँ कि इस घटना द्वारा कृष्णा सोबती हमारे समाज में सवालों के न किये जाने की वस्तुस्थिति दर्ज कर रही थीं, क्योंकि खुद उन्होंने सवाल उठाने में कभी कोताही नहीं की। मेरी दिलचस्पी भी सवालों में है। गीता पढ़ते हुए भी श्रीकृष्ण के उत्तरों की निस्बत, मुझे अर्जुन के सवाल अधिक महत्वपूर्ण लगते रहे हैं।

ज़रूरी नहीं है कि हर सवाल का जवाब हो। किसी सवाल का एक ही जवाब हो, वह तो शुद्ध विज्ञान के सिवा कहीं सम्भव नहीं; शुद्ध विज्ञान में भी शोध के साथ उत्तर बदलते रहते हैं। जहाँ तक समाज, धर्म, सौन्दर्य, साहित्य व कला का सवाल है, संशय व असहमति से उत्पन्न जिज्ञासा तथा

प्रश्नाकुलता, उनका प्राण-तत्व है क्योंकि उसी के माध्यम से हम पुनर्विचार और नूतन सृजन कर पाते हैं। सवालों के जवाब, कभी हम मिल कर ढूँढ़ते हैं तो कभी अकेले। मिल कर ढूँढ़ने को हम संवाद का नाम दे सकते हैं, अकेले ढूँढ़ने को साहित्य सृजन का।

साहित्य सृजन में पुनर्विचार से उत्पन्न नई जीवन दृष्टि, तर्क या संवाद तक सीमित नहीं रहती। जैसे ही लेखक पात्रों का सृजन करता है, उसकी जीवन दृष्टि, विचार का दायरा लांघ, जीते-जागते इंसानों के जीवन के घटनाक्रम में प्रवेश कर जाती है। कथा साहित्य के पात्र काल्पनिक भले हों पर वे पाठक को अपने आसपास बिखरे वास्तविक चरित्रों से ज़्यादा सजीव और विश्वसनीय लगते हैं, क्योंकि अपने परिचितों में वे जिन विसंगतियों को, निजी कारणों से, अनदेखा किये रहते हैं, साहित्यिक पात्रों में निस्संकोच स्वीकार कर लेते हैं। उन्हें अन्तरंगता से महसूस करने के बाद, उन विरोधाभासों या स्वीकृत मूल्यों के अस्वीकार को मान्यता देने के बाद, वे खुद भी, कहीं न कहीं, बदलने लगते हैं।

इस प्रक्रिया में पात्रों व स्वयं लेखक द्वारा प्रयुक्त भाषा की अप्रतिम भूमिका रहती है। उसी के माध्यम से पाठक और पात्र की अन्तरंगता स्थापित होती है। लिखना शुरू किया तभी से उनकी कहानी 'यारों के यार' में प्रयुक्त गालियों का ज़िक्र सुनती आई हूँ। इस टिप्पणी के साथ कि मर्दाना गालियाँ, कहानी की माँग थीं, जिसे लेखिका ने साहस के साथ पूरा किया। पाठकों-आलोचकों की दृष्टि में, चूँकि असल ज़िन्दगी में वे गालियाँ मर्द देते थे, औरतें नहीं, कम-अज़-कम मध्य वर्ग में, इसलिए एक औरत का उन्हें हूबहू कागज़ पर उतारना साहस का काम था। मुझे इस नज़रिये में मूलभूत तार्किक विसंगति दिखलाई देती है। ग़ौरतलब यह है कि उस कहानी में, भले ही लिखी औरत ने हो, गालियाँ देते मर्द ही हैं, औरतें नहीं। औरतें देतीं तब भी अपमान औरतों का ही होता क्योकि तमाम मर्दाना गालियाँ, मर्द के बहाने किसी औरत को बेइज़्ज़त करती हैं, माँ-बहिन हो या पत्नी, खुद मर्द को नहीं। पर उस स्थिति में एक सार्थक बहस हो सकती थी कि क्या उन गालियों को दुहरा कर, स्त्रियाँ पितृसत्तात्मक समाज के कलुष को आत्मसात् नहीं कर रहीं? पर यहाँ तो पुरुषों का वही कथन लिखा गया था, जो पुरुष लेखक लिखते रहे थे। स्त्री का उसे लिखने से परहेज करना या लिख देना ख़ास मानी नहीं रखता। स्त्रीत्व या स्त्री की भाषा का अर्थ उससे कहीं गहरा और अर्थवान है।

स्त्री भाषा से मेरा मन्तव्य, भाषा में निहित स्वभाव और संस्कार से है। कृष्णा सोबती के लेखन में भाषा का जो उत्सव या त्योहार अन्तर्निहित है, वह उसे स्त्रीत्व की भाषा बनाता है। लेखक यदि स्त्री न होकर पुरुष होता तब भी भाषा की यह खूबी उसे स्त्री भाषा बनाये रखती। हमारी संस्कृति में उत्सव और उपदेश का विशेष महत्व और भूमिका है। यहाँ तक कि हर निजी, त्रासद और पीड़ादायक अनुभव को भी कर्मकाण्ड बनते देर नहीं लगती; शिशु जन्म हो या पति का देहान्त। त्योहारों की उत्सवधर्मिता और तकलीफ़, दोनों स्त्रियाँ ज़्यादा झेलती हैं। गाँव हो या कस्बा; शहर हो या महानगर; झुग्गी बस्ती हो या बंगला, त्योहार मनाने या झेलने का बोझ स्त्री के कन्धों पर रहता है। यहाँ तक कि अनेक सम्भ्रान्त परिवारों में तो स्त्री का पूरा जीवन कर्मकाण्ड बन कर रह जाता है, जहाँ उसके निजी मनोभावों का कोई अर्थ नहीं होता। उन्हें प्रकट न करना उसकी आदत में शुमार हो जाता है।

कृष्णा सोबती का बृहद उपन्यास 'ज़िन्दगीनामा' इसका ज़बरदस्त उदाहरण है। उपन्यास में एक पूरे समाज का चित्र, सतत चल रहे त्योहारों के माध्यम से उभरता है। एक तरफ़ फ़सल के बोने, पकने, काटने और खाने के बारहमासी उत्सव हैं तो दूसरी तरफ़ शिशु के गर्भ में आने से लेकर, उसके पैदा होने, अन्न खाने, पढ़ने जाने, मुहब्बत, शादी वगैरह करने का अनवरत जश्न है। भाषा की उत्सवी वाचालता के कारण सूदखोरी, डाका, हत्या, कालापानी की सज़ा भी जोखिम और यंत्रणा का उद्दाम रंग बिखेरते त्योहार प्रतीत होते हैं। हर त्योहार को, सुखकारक हो अथवा यातनादायक,

कोई औरत परवान चढ़ा रही होती है। उसका खमियाज़ा भी औरत ही भुगत रही होती है। इसीलिए भाषा की उत्सवधर्मिता को मैं स्त्रीत्व की भाषा कहती हूँ।

मनुष्य नाम का प्राणी दो सूरतों में वाचाल होता है, मर्द हो या औरत। या जब वह कुछ महसूस नहीं करता या जब वह नहीं चाहता कि लोग जानें कि वह कितनी शिद्दत से महसूस कर रहा है। कृष्णा सोबती के कथा साहित्य में दोनों प्रकार की वाचालता की भरपूर अभिव्यक्ति है। जो सचमुच महसूस करता है, वह अपने अहसास को अभिव्यक्त करने के लिए शब्द नाकाफ़ी पाता है और चुप हो जाता है; सोब्ती की 'ऐ लड़की' की लड़की की मानिन्द। मैं जानती हूँ, 'ऐ लड़की' की माँ पात्र खूब-खूब वाचाल है। सुघड़ गृहणी का लम्बा कर्मकाण्डी जीवन बिता कर बड़ी उम्र पाई औरतें, वाचाल होती ही हैं। पर वह वाचालता एक विडम्बना को समेटे रहती है। आम मध्यवर्गीय गृहणियों में अपनी उपलब्धियों को लेकर जो वाचाल अहंकार दीखता है, वह वास्तविक कम, नाटक ज़्यादा होता है। उसका उद्भव सायास सीमित किये गये व्यक्तित्व बोध से होता है, वास्तविक पूर्णता बोध से नहीं, इसीलिए इतना वाचाल होता है। भारतीय स्त्री के जीवन का यह कटु सत्य, 'ऐ लड़की' की माँ के लम्बे सम्भाषण के बीच खुद-ब-खुद उजागर होता चलता है। लच्छेदार मुहावरे उसका सशक्त वाहक बनते हैं। मुहावरों के अत्यधिक प्रयोग से मुझे डर लगता है। भुक्त भोगी हूँ; अनुभव से कह रही हूँ। हमारी एक परिचित हैं, जिनके पास मुहावरों का अक्षुण्ण भण्डार है। आस-पड़ोस में, परिवार में, बड़ी-से-बड़ी त्रासदी घट जाए, वे विचलित नहीं होतीं। नमकीन फांकते-फांकते धड़ल्ले से मौजूं मुहावरे बोलती जाती हैं। उन जैसे अनेक लोगों को झेल कर, मैं इस नतीजे पर पहुँची हूँ कि साहित्य हो या जीवन, मुहावरे या वह बोलता है, जो महसूस नहीं करता या वह, जो अपने पीड़ा या कमतरी के अहसास पर परदा डाले रखना चाहता है। कृष्णा सोबती के कथा साहित्य में मुहावरों का प्रयोग उत्कट अहसास पर परदा डालने के लिए किया जाता है, ऐसी उत्सवी वाचालता के साथ कि वे भाषा को स्त्री तत्त्व से लबालब कर देते हैं। 'ज़िन्दगीनामा' की वाचालता से लेकर 'ऐ लड़की' की चुप्पी तक का सफ़र, स्त्रीत्व की भाषा के विकास का सफ़र है।

गांधी और नेहरू
भारतीय सर्वधर्मसमभावी राष्ट्रवाद की साझी विरासत

दीपक मलिक

जवाहरलाल ने अपनी पुस्तक 'डिस्कवरी आफ इण्डिया'[१] (१९४६) में गांधी का जो जिक्र किया है उससे महात्मा गांधी की शुरुआती दिनों में राष्ट्रीय आंदोलन में उभरती हुई केन्द्रीयता का एक स्पष्ट चित्र उभरता है। इस विमर्श में राष्ट्रवाद बनाम साम्राज्यवाद श्रमिक वर्ग एवं मध्यम वर्ग की बेबसी के सन्दर्भ में गांधी आगमन की चर्चा जवाहरलाल ने निम्नलिखित शब्दों में रक्खी है ''प्रथम महायुद्ध ने बंगाल के जूट मिलों और बम्बई के सूती मिलों और उनके मालिकानों को १०० से २०० प्रतिशत का फायदा पहुँचाया था पर आम आदमी और मजदूरों की हालत इतनी खराब थी कि ब्रिटिश ट्रेड यूनियन के एक प्रतिनिधिमण्डल ने आसाम के चाय बगानों का वर्णन करते हुए कहा कि ''श्रमिकों का भोजन इतना अस्वास्थ्यकर और अपर्याप्त था कि चूहे भी उसे खाकर पाँच हफ्ते से ज्यादा जी नहीं सकते थे। यह रपट ट्रेड यूनियन प्रतिनिधिमण्डल को बंगाल के स्वास्थ्य विभाग से ही मिली थी।''

नया मध्यम वर्ग निराशा में डूबा हुआ था- पुरानी रीति रिवाज से बँधा-पर परम्परा शून्य एक ओर और दूसरी ओर उसी मध्यम वर्ग का एक हिस्सा जो अतीत के मृत हिस्सों में अपना जीवन देखता था, जिसके बारे में रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कहा था कि हम अपनी समृद्ध अतीत के मृत अध्यायों पर आधारित नहीं हो सकते थे।[२] नेहरू ने गांधी आगमन का वर्णन करते हुए कहा, ''ऐसे वक्त में गांधी आए... बेहद उधेड़बुन में मुल्क डूबा हुआ था। वह एक स्वच्छ हवा के झोंके की तरह थे। हम उस झोंके में गहरी सांस ले पाए। वे एक प्रकाश की झलक के समान थे जिसने हमारे सामने पसरे अँधेरे को चीर कर हमारे आँखों के ऊपर बँधी पट्टियों को खोल दिया। वे एक तूफान की तरह थे जिन्होंने हमारे जिन्दगी को उलट-पलट दिया। वे ऊपर से थोपे नहीं बल्कि जनता के बीच से उभरे थे। उनके सन्देशों का मर्म था 'अभय'। याज्ञवल्क और जनक ने पौराणिक पाठ्य में 'अभय' की चर्चा की, पर औपनिवेशिक जमाने का आम आदमी उसे भूल चुका था। जवाहरलाल ने आगे लिखा - ''लेकिन आज की तारीख में लोग भयभीत हैं पुलिस से, सेना से, आयकर से, सेठ साहूकार से। गांधी का सन्देश था निर्भय हो।''[३]

आखिर गांधी और जवाहर में पृष्ठभूमि की इतनी भिन्नता के बाद कौन सा रिश्ता या रसायन बनता था जिसने दोनों व्यक्तियों को भारतीय स्वातंत्र्य आंदोलन के मुख्य शिल्पियों में बदल दिया था। गांधी की दृष्टि नैतिकता, प्रतिवाद सामाजिक क्रांति और आध्यात्म के मिश्रण से बन कर आयी थी, नेहरू का स्पष्ट रुझान समाजवाद और आधुनिक राष्ट्र निर्माण में था पर ऐसा भी नहीं था कि वे कभी भी न मिलने वाले विपरीत ध्रुवों पर टिके थे।

गांधी और जवाहरलाल की उम्र में २० साल का अन्तर था, लेकिन यहीं तक नहीं, जवाहरलाल अपने लन्दन शिक्षा प्रवास के दिनों में फेवियन समाजवाद से प्रभावित थे। ऑस्कर वाइल्ड से लेकर बर्नाड शॉ उनके संदर्भ बिंदु थे। आइरिश साम्राज्यविरोधी आंदोलन से वे हिंदुस्तानी संघर्ष के लिए सबक लेना चाहते थे।[४] जवाहरलाल विज्ञान और मानवतावाद को अपने जीवन का मूल आधार मानते थे उसी जवाहरलाल ने एक सन्तनुमा व्यक्तित्व के अधिकारी, जिनकी दुनिया परिभाषित होती थी उपवास, अर्न्तमन की यात्रा, प्रार्थना, चर्खा से, आखिर ऐसे व्यक्ति के सामने समर्पण कैसे किया? ब्रिटिश इतिहासविद् पर्सिवियल स्पीयर का कहना था कि जवाहरलाल को मूलतः एक अभिभावक चाहिए था। शुरू में वे मोतीलाल को अपने अभिभावक के रूप में देखते थे और बाद में गांधी पर उसी प्रकार की निर्भरशीलता बनी जो पिता-पुत्र सम्बन्धों में देखी जा सकती है, पर यह व्याख्या भी असम्पूर्ण है।[५] यह महज पिता-पुत्र सम्बन्ध नहीं है। जवाहरलाल ने अपने पिता मोतीलाल को राष्ट्रीय आंदोलन में खींच ले आने में एक मुख्य उत्प्रेरक की भूमिका निभाही थी। मोतीलाल ने जवाहरलाल की विश्व दृष्टि नहीं बनाई थी बल्कि जवाहरलाल ने ही अपने पिता की दृष्टि बदल दी थी। यह भी तथ्य है कि बहुत हद तक पुत्रमोह में ही शुरुआती दिनों में मोतीलाल ने राष्ट्रीय आंदोलन में कूदने का मन बनाया था।

मानवेन्द्रनाथ राय का कहना था कि ''जवाहरलाल हृदय की आवाज को अधिक महत्व देते थे और वे उसके अधीन थे, उन्होंने जानबूझकर अपना व्यक्तित्व दबाए रखा जिससे कि वे 'भारतीय राष्ट्रवाद' के नायक और गांधी के आध्यात्मिक वारिस बन सके।''[६]

पिता-पुत्र अन्योन्याश्रितता और अपने व्यक्तित्व को दबाकर नायकत्व हासिल करने की इन बहसों से सम्भवतः जवाहरलाल का पूरा आंकलन नहीं हो पाएगा। इसी कड़ी में ५० और ६० के दशक के कम्युनिस्ट नेता और सांसद हीरेन मुखर्जी का भी वक्तव्य आता है जिसके अनुसार गांधी ने जवाहरलाल को अपने साथ रखा था जिससे कि वे जवाहरलाल के करिश्मा और प्रभाव पर नियन्त्रण रख सके। चूँकि गांधी को पूँजीपतियों और अन्य शक्तिशाली वर्गों को राष्ट्रीय आंदोलन में बनाए रखना था। मुखर्जी के अनुसार नेहरू पर गांधी का अधिकार महज एक कूटनैतिक चाल थी जिसके तहत वे उभरते हुए वामपंथी विद्रोही मनोभाव पर नियंत्रण करना चाहते थे जिससे यथास्थितिवादी ताकतों को परेशानी न हो।[७]

नेहरू-गांधी रिश्तों के बारे में टिप्पणियाँ कहीं महज मनस्तत्वीय मनोविज्ञान और कहीं षडयन्त्रमूलक वर्चस्ववाद और कहीं कूटनीति के विमर्श के बीच लटकती रहती है। कहीं पुत्र का पिता के अभिभावकत्व की आवश्यकता, तो कहीं नेहरू द्वारा राष्ट्रीय जीवन में अपनी जगह बनाने के लिए अपने स्वाभाविक वृत्तियों को दबा कर गांधी का साथ देना तो कहीं गांधी द्वारा उभरते युवा वामपंथी विद्रोही मनोभाव पर नियन्त्रण करने के लिए जवाहरलाल को अपने नियन्त्रण में रखना जैसे संदर्भों में नेहरू-गांधी रिश्तों को देखना तथ्यों को पूरी तरह से नजरअन्दाज करना होगा।

'डिस्कवरी आफ इण्डिया' में जवाहरलाल पूरे विश्व इतिहास और भारतीय इतिहास के पन्नों को पार करते हुए गांधी पर आए हैं जिसने उन आँखों पर बँधी पट्टी खोल दी और वे एक स्वच्छ हवा के झोंके में श्वास ले पाए। इतिहास प्रदक्षिणा के बाद निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए नेहरू इतिहास

को उलट-पुलट कर चन्द्रगुप्त मौर्य से लेकर अशोक प्रियदर्शी और अकबर तक, भारत से लेकर चीन और अबिसिनिया तक और फिर अपने जीवन, मिथक, कालिदास साहित्य, संस्कृति की प्रदक्षिणा करते हुए निष्कर्ष वाले अध्याय में वे गांधी तक पहुँचते हैं।

गांधी का 'अभय' उन्हें 'गुणमुग्ध शिष्य' में परिवर्तित कर देता है। इतिहास झंझावात में वे एक पतवार की खोज में थे। वह मिल गया- केवल जवाहरलाल को ही नहीं गांधी को भी। इन दोनों की अन्योन्याश्रिता के बिना हिन्दुस्तानी इतिहास की विवेचना एकतरफा और असम्पूर्ण ही रह जायगी। मदन मोहन मालवीय से लेकर लाजपतराय, गोखले से लेकर गरमदली कांग्रेसी नेहरू को प्रभावित नहीं कर पाए। गांधी की ही तर्ज पर 'सत्य की यात्रा' के साथ-साथ जवाहरलाल की 'इतिहास यात्रा' भी थी। दोनों उपक्रमों के लिए एक सत्यान्वेषी प्रयोग की आवश्यकता थी। बहुत सारा इतिहास का निचोड़ वे गांधी के प्रयोगों मे देख पाते थे- उनकी दृष्टि गांधी के ऊपरी आवरण 'मध्ययुगीयता' को छेद कर भीतर तक जाती थी। एम.एन.राय के पास यह दृष्टि नहीं थी, न ही हीरेन मुखर्जी या पर्सिवियल स्पीयर के पास यह अर्न्तदृष्टि थी।

दरअसल महात्मा और जवाहरलाल नेहरू दोनों ही सत्यान्वेषी थे। एक उम्र में कम... इतिहास भाषा के माध्यम से भारत के सच और बदलाव वाले भविष्य यात्रा के बारे में खोजबीन कर रहा था तो दूसरा उम्र में ज्येष्ठ उपवास, आश्रम, आंदोलन, परम्परा और आम आदमी के बोध 'कामनसेन्स' के माध्यम से इस उपमहाद्वीपीय सभ्यता को सत्य की परख में जाँचना चाहता था। जवाहरलाल 'भारतीय राष्ट्रवाद' की यात्रा पर थे। यही बिन्दु था जो महात्मा और जवाहरलाल को मिलाता था।

''भारतीय राष्ट्रवाद'' पर अभी तक की बहस में जवाहरलाल को महज (राष्ट्रवाद का प्राप्य इतिहास या 'रिसीव्ड हिस्टरी') के लाभार्थी के रूप में दर्शाया गया है। यह सत्य से परे है- नेहरू ने १९वीं सदी के भारतीय रिनॉसा से लेकर दादाभाई नौरोजी, गोखले के उदारतावाद और बंकिम, तिलक, मालवीय, अरविन्दो घोष, राजगोपालाचारी, मोहम्मद इकबाल के सांस्कृतिक प्रतिवादी एक्सक्लूसीविस्म (बहिष्करण) को अतिक्रमित करते हुए राष्ट्रवाद के बहस को आगे बढ़ाया है।

दरअसल पूरे विश्व इतिहास के संन्दर्भ में भारतीय राष्ट्रवाद को स्थान संदर्भित (सिचुएट) करना और सिर्फ उसे गांधी के प्रैक्सिस तक ले आने की प्रक्रिया में एक नये प्रैक्सिस का जन्म होता है जिसे हम नेहरूवीयन प्रैक्सिस कह सकते हैं। इस प्रक्रिया में जवाहरलाल ने न केवल एक प्रमुख राष्ट्रवादी नेता की भूमिका निभाही बल्कि उन्होंने एक अदद सिद्धान्त भी गढ़ा... जिसके अनुसार आधुनिक भारतीय राष्ट्र गढ़ने के कार्य को आगे बढ़ाया। मूलतः ''भारतीय राष्ट्रवाद'' की थियोरी सजाने की कोशिश की और यह थियोरी या सिद्धान्त भारतीय इतिहास की पुर्नरचना के लिए नितान्त महत्वपूर्ण औजार बना।

जवाहरलाल की इस पहल के लगभग तीन दशक पहले से लेनिन ने रूसी परिप्रेक्ष्य में इनकलाब की मार्क्सीय व्याख्या में नयी सैद्धान्तिकी को गढ़ा था जिसमें एक नेशन स्टेट में विश्व संकट एवं साम्राज्यी पूँजी के बीच भीषण द्वंद्व-युद्ध के बीच से एक पराजित होते हुए राजतंत्रीय राष्ट्रवाद के ताने-बाने के बिखरने के दौर में हुई क्रांति को अमली जामा पहनाया गया था जबकि इसके लिए शास्त्रीय मार्क्सवाद में कोई रास्ता सुझाया नहीं गया था। दूसरी नायाब सैद्धान्तिकी लेनिन ने गढ़ी जो मार्क्सवाद से नहीं ली गयी थी और वह थी एक कृषि प्रधान सामन्ती राजतंत्रीय देश के छोटे से मजदूरवर्ग के साथ पराजित आम सैनिक जो पुराने जारशाही राष्ट्रराज्य की बिखरती राजसत्ता के बाद लेनिन और बोलशेविक पार्टी के आश्रय में आ गए थे, इनके साथ गरीब और सर्वहारा ग्रामीण समुदाय को जोड़कर एक नये गठबन्धन के माध्यम से क्रांति का अग्रिम दस्ता बनाना। यह वस्तुतः मजदूर गरीब किसान और बिखरे सेना के जवानों का संघठन ही था जो रूसी क्रांति का वाहक बना।

इसी को मार्क्सवाद-लेनिन की भाषा में मजदूर-किसान एका कहते हैं, तीसरा नया संयोजन था- 'पंचायती जनतन्त्र' जिसको रूसी भाषा में 'सोवियत' कहते हैं। ये सोवियतें मूलतः तृणमूल स्तर की 'जनतांत्रिक पंचायती' संगठन थे, जो यूरोप मे जन्में संसदीय जनतन्त्र का ''तृणमूल स्तर'' पर गैर पूँजीवादी विकल्प था। इन्हीं सोवियतों में अक्तूबर क्रांति के लिए बहुमत बोलशविक पार्टी को मिल गया। अक्तूबर क्रांति की तकनीकी पृष्ठभूमि इन तीन प्रयोगों से उभरा था, जो एक तौर पर मार्क्सवाद का पिछड़े समाज के लिए नया संस्करण था। यह संयोजन मार्क्स का नहीं, लेनिन का था।

जवाहरलाल ने भी इस प्रकार भारत के राष्ट्रीय आंदोलन में नये पृष्ठ जोड़े। १८५७ का नाटकीय जन विद्रोह आवश्यक नहीं था कि नये राष्ट्रवाद के संरचनात्मक बीज अपने में सँजोए रहा हो। यह व्यापक जनविद्रोह था। अक्तूबर क्रांति से एक सादृश्य १८५७ का यह है कि बागी सैनिकों का एक बड़ा विद्रोह था। १८५७ हिन्दू मुस्लिम एकता की तस्वीर तो बनाती है पर कालान्तर में इसके प्रभाव के फलस्वरूप एक आधुनिक राष्ट्रतंत्र बन पाता या नहीं यह प्रश्न तो अधर में लटका ही रह जाएगा। एक हद तक इनमें बनोपार्ती क्रांति की तस्वीर तो बनती है, पर 'पैरिस कम्यून' जैसी एक निश्चित नयी संरचना की कोई मजबूत शकल उभरती नहीं दिखलाई पड़ती है। दरअसल 'हिन्दुस्तानी राष्ट्रवाद' अभी भी अपरिभाषित रह गया था।

'मुश्तरका हिन्दुस्तानी आधुनिक राष्ट्रवाद और उसकी रणनीति' को पहली बार गढ़ा गांधी ने जब उन्होंने १६२१ में असहयोग और खिलाफत के संयुक्त आंदोलन का बीड़ा उठाया, १६२२ में कांग्रेस संगठन का लोकतांत्रिक ढाँचा बनाया, खिलाफत और हिन्दू-मुस्लिम एकता का आधार रखा और साम्राज्य की वैकल्पिकी बनाने के लिए एक क्रांतिकारी संगठन, संविधान और सैद्धान्तिकी को गांधी ने इस दौर में गढ़ा- यही 'आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद' की पहली सीढ़ी थी १८५७ राष्ट्रवाद की पृष्ठभूमि तो बनाती है- पर संरचना का अभाव पूरा नहीं कर पाती थी। बहादुरशाह का मुगलियातंत्र और मराठे-पेशवाई सरदारों के साझातंत्र में कितना ''नया आधुनिक राष्ट्रवाद'' का पुख्ता संरचना बना पाता यह एक प्रश्न चिह्न रह जाएगा। १६२१ के पश्चात् सन् ३० के दशक में जवाहरलाल ''आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद'' के उभरते हुए शिल्पी बन जाते हैं। औपनिवेशिक राज्य तंत्र और उसके अवयव जैसे कि ज़मीनदारी प्रथा, न्याय प्रथा, पुलिस, औपनिवेशिक नौकरशाही, औपनिवेशिक सीमित प्रतिनिधिमूलक संस्थाएं जैसे कि इम्पीरियल लेजिस्लेटिव काउंसिल से लेकर म्युनिसिपलिटी जैसे स्थानीय स्वशासनतंत्र, औपनिवेशिक शिक्षा तथा औपनिवेशिक पोलिटिकल इकोनोमी और उनका आनुषंगिक औघोगिकतंत्र और रेलवे संचार के वर्चस्व के नीचे भारतीय जनमानस आ चुका था पर उपनिवेशवादीतंत्र की वैकल्पिकी के रूप में 'आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद' की गढ़ने की प्रक्रिया भी साथ ही साथ चालू थी।

दरअसल राष्ट्रवाद पर शुरुआती बहस भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर बंकिमचन्द्र और रानाडे ने शुरू कर दी थी। इसके सांस्कृतिक पक्ष पर विवेकानन्द जैसे सन्यासियों ने पहल ले ली थी, समाज सुधार में दयानन्द सरस्वती भी इसी दौर में उभरे। मुस्लिम जनता के बीच भी नव जागरण की हनक सुनाई पड़ रही थी- सर सैय्यद अहमद खाँ से लेकर अलम्मा इकबाल और मौलाना अबुल कलाम आजाद और उनकी तहरीक तथा १८५७ के संघर्ष में वीरतापूर्ण प्रतिरोध करनेवाले देवबन्दी उलेमाओं का समूह दिखलाई पड़ता है। जहाँ एक ओर यदि मुस्लिम समाज के अधुनिकीकरण जिसमें अंगरेजी शिक्षा और विज्ञान को स्वीकार करने का उपक्रम निहित था तो दूसरी ओर औपनिवेशिकवाद के विकल्प में पूरब की आवाज को प्रतिध्वनित करने वाले अलम्मा इकबाल का पश्चिमी सभ्यता के खिलाफ इनकलाबी स्वर जो दुर्भाग्य से आगे चलकर 'मुस्लिम अलगाववाद' में बदल गया और मौलाना अबुल कलाम आजाद की मुस्लिम दुनिया में 'भारतीय राष्ट्रवाद' की नयी

पहल में अंग्रेजी हूकूमत की खिलाफत की विभिन्न धाराएँ भी जो मूलतः औपनिवेशिक वर्चस्व और साथ ही साथ पुराने समाज को बदलने का आह्वान था, वह सुनाई पड़ने लगा था।

दूसरी ओर नयी हिंदी के स्थापित भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जहाँ एक ओर एक निहायत सचेतन राष्ट्रवाद के वाहक थे और कवि वचन सुधा के ६ जुलाई १८५७ के अंक में लिख सकते थे कि ''जिस प्रकार अमेरिका उपनिवेशित होकर स्वाधीन हुआ वैसे ही भारतवर्ष भी स्वाधीनता लाभ कर सकता है''[८] पर दूसरी ओर बाध्यतावश ही सही १८६९ में ड्यूक ऑफ एडिनबरो के आगमन पर राजकुमार सुस्वागत पत्र, १८७१ में प्रिंस आफ वेल्स को टाइफाइड होने पर भगवान से रोग दूर करने के लिए प्रार्थना भी की।[९] पर यह सभी एक 'युगीन जीवन शैली' का चित्र हमारे सामने उभारता है जहाँ विरोध और समर्पण और दुहरे वक्तव्यों की बाध्यता बन चुकी थी। पर दुनियावी बाध्यताओं के बावजूद भारतेन्दु में अंगरेजी राज के राजनैतिक अर्थशास्त्र (पोलिटिकली इकॉनमी) में औपनिवेशिक शोषण और लूट की समझ पुख्ता थी।

भारतेन्दु से लेकर बंकिमचन्द्र भारत के औपनिवेशिकरण के पीछे 'भारतीय राष्ट्रवाद' की कमजोरी दर्शाते हैं और उनकी समझ है कि भारत की क्लैवता ही इसके पतन का मुख्य कारण है। इस सभ्यता में पुरुषोचित गुण नहीं है। यहीं पर गांधी की दृष्टि कहीं अधिक पैनी साबित होती है जब वे कहते हैं कि 'भारत की आजादी अंगरेजों ने छीनी नहीं, भारतीयों ने स्वतः ही उनकी गुलामी मान ली।'[१०] 'आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद' का विश्लेषण और उसकी शुरुआती नींव गांधी ने ही रखी और नेहरू ने उस व्याख्या को आधुनिक देश निर्माण के सैद्धान्तिक कार्यान्वयन (प्रैक्सिस) में बदल दिया।

गांधी ने सन् २१ में स्वराज की व्याख्या करते हुए कहा था कि स्वराज के लिए आंदोलन आत्म शुद्धि का आंदोलन है। जनता के स्वराज का अर्थ है ''व्यक्तियों के स्वराज का जोड़'', यही स्वराज को परिभाषित करता है।[११] स्वराज का दूसरे महत्वपूर्ण कार्यभार के तहत हिन्दू-मुस्लिम एकता, जातिप्रथा से उभरा रूढ़िवाद, अस्पृश्यता-निवारण तथा आर्थिक गैर-बराबरी दूर करना बनता था, यहीं गांधी और नेहरू के बीच ऐतिहासिक साझा बन जाता है।

'आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद' के निर्माण में विविधता में एकता और हिन्दू-मुस्लिम एकता बुनियादी शर्तें थीं- गांधी और नेहरू इस 'विराट कर्म यज्ञ' में पूरे तरह से साझीदार थे। पर गांधी का 'स्वराज' उनके पुरखों की परिभाषा से बिल्कुल अलग था महज 'राजनैतिक आजादी, या 'राष्ट्रीय आजादी' को गांधी पूर्व व्याख्याकार जैसे कि बाल गंगाधर तिलक और दादा भाई नौराजी 'स्वराज' का मूल मंत्र मानते थे। उनके लिए 'राजनैतिक स्वायत्तता' इसका मर्म था। १९०६ में दादाभाई नौराजी ने स्वराज के उद्देश्यों को परिभाषित करते हुए कहा -''हम वही सुविधा अंगरेजों से माँग रहे हैं जो हमें न्याय के तहत मिलना चाहिए। एक ब्रिटिश नागरिक होने के कारण हमारे अधिकारों में कमी नहीं होनी चाहिए। स्व-शासन या स्वराज कुछ उस प्रकार की माँग है जैसा कि ग्रेट ब्रिटेन या उसके उपनिवेशों के शासन पद्धति में निहित है।''[१२]

१९वीं शताब्दी के अन्त में 'अनगढ़े राष्ट्रवाद' को एक 'सभ्यतामूलक राष्ट्रवाद' और 'आधुनिक इन्क्लूसिव राष्ट्रवाद' में परिवर्तित करने में गांधी और नेहरू की भूमिका सबसे महत्वपूर्ण रही है और यह गांधी के विभिन्न प्रयोगों और राष्ट्रीय आंदोलन में नेहरू गांधी की नेतृत्वशैली तथा इतिहास के प्रवाह के फलस्वरूप बनता रहा।

संदर्भ

1. Nehru, Jawaharlal. Discovery of India. First Published Calcutta, Signet Press, 1946 and Teen Murti House, New Delhi, Nehru Memorial Fund, 1994, p.357
2. Ibid. p. 359
3. Nehru, Jawaharlal, Discovery of India. Teen Murti House New Delhi, Nehru Memorial Fund, 1994, p.358
4. Nanda, B.R. Jawaharlal Nehru. Oxford, Rebel and Statesman, 2004, p.24
5. Spear, Perceivial. Nehru in modern Asian studies. Vol.4 (Jan. 1967), p.8
6. Jawaharlal Nehru: An enigma or tragedy in A.B. Shah (ed) Jawaharlal Nehru a critical tribute. Bombay, 1965, p.39
7. Mukherjee, Hiren. Gentle colossus a study of Jawaharlal Nehru. Calcutta, 1964, p. 71-75
8. शर्मा, रामविलास। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिंदी नव जागरण की समस्याएँ। राजकमल, १९६६ए पृ. १९
9. वही। पृ. ६०
10. नाणावटी, अमृतलाल ठाकोरदास। महात्मा गांधी हिंद स्वराज्य। राजघाट, वाराणसी, सर्वसेवा संघ, २००२, पृ. ३७
11. Collected works of Mahatma Gandhi. Vol 24, No. 69, p. 52
12. Dada Bhai Naoroji, speeches and writings. Madras G.A. Natsan Co. and Bal Gangadhar Tilak, writings and speeches. Madras, Ganesh and Co., 1918. p.97-115, 152-53

हैदराबाद का रोजनामचा

से.रा.यात्री

१९९४ नवम्बर में 'केन्द्रीय साहित्य अकादेमी' ने मुझे एक प्रोजेक्ट पर काम करने के लिए आमंत्रित किया। मुझे किसी अहिंदी प्रदेश में जाकर उस प्रदेश के ख्यात साहित्यकारों से उनकी साहित्यिक गतिविधियों और अधुनातन लेखन पर बातचीत करके उसका लेखा जोखा प्रस्तुत करना था। संयोग से मैं नवम्बर में 'केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय' के शिविर में सम्मिलित होने के लिए नागपुर गया था जहाँ से शिविर की समाप्ति पर मैं हैदराबाद चला गया। वहाँ उन दिनों विभूति नारायण राय एक वर्ष का अवकाश लेकर साम्प्रदायिकता पर शोध-कार्य कर रहे थे, मैंने तय किया कि मैं तेलगू भाषा के कुछ ख्यात साहित्यकारों से संवाद करके उसका विवरण 'केन्द्रीय साहित्य अकादेमी' को प्रेषित कर दूँगा।

नवम्बर १९९४ में लगभग एक सप्ताह हैदराबाद में उनके साथ रहा और यह कहकर वापस लौट आया कि मैं पुनः जनवरी १९९५ में लौटूँगा और तेलगू साहित्यकारों से संवाद करूँगा।

मैं जनवरी १९९५ में हैदराबाद पहुँच गया। उस दौरान मैं श्री राय के घर में ही ठहरा और उनके सहयोग से हैदराबाद में दूर-दूर अवस्थित साहित्यकारों के ठिकानों पर जाकर उनसे बातचीत की और वह विवरण 'साहित्य अकादेमी' को लिख भेजा।

उन थोड़े से दिनों में मैं जिन महत्त्वपूर्ण तेलगू साहित्यकारों और अन्यान्य हिन्दी संवर्धन से जुड़ी गतिविधियों के केन्द्रों में जा सका उनका विवरण हैदराबाद का रोजनामचा में उपस्थित है।

३ जनवरी १९९५

गाड़ी ठीक टाईम से हैदराबाद पहुँच गई। मैं डर रहा था कि 'आन्ध्र प्रदेश एक्सप्रेस' पिछली दफा की तरह कहीं रात नौ के बजाय साढ़े बारह बजे ही हैदराबाद न पहुँचे। पर चलो खैर हुई विभूति नारायण राय स्टेशन पर ही मिल गए। वह मुझे जिस डिब्बे में तलाश करते रहे थे मैं वहाँ नहीं था। डिब्बे पर नम्बर गलत था, जो सही डिब्बा था मजे की बात है उस पर कोई नम्बर ही नहीं था। यह है हमारे रेलवे विभाग की मुस्तैदी।

राय साहब स्टेशन से कोई पन्द्रह किलोमीटर दूर 'नेशनल पुलिस एकेडेमी' शिवराम पल्ली में

रहते हैं। हमलोगों ने 'मिलाप' अख़बार के शशि नारायण स्वाधीन से स्टेशन पर ही विदा ले ली और मैं राय साहब के साथ उनकी गाड़ी में 'नेशनल पुलिस एकेडेमी' चला गया। रास्ते में मैंने उनसे तेलगू भाषा के महत्वपूर्ण लेखकों से मिलने और संवाद करने की बात कही तो उन्होंने बतलाया कि उन्हें मेरा खत मिल गया था और उन्होंने 'दक्षिण समाचार' के संपादक मुनीन्द्र जी से सब कुछ तय कर लिया है।

लगभग साढ़े दस बजे हम लोग घर पहुँच गये। बच्चे लोग अभी जाग ही रहे थे और पद्मा जी हम लोगों का खाना लगाये मेज पर बैठी थीं। मैं एक माह पहले हैदराबाद आया था तो इसी घर में ठहरा था।

पद्मा जी ने हँसते माथे स्वागत किया। खाना खत्म करके मैं पिछले वाले कमरे में ही चला गया। साफ सुथरे कमरे में दीवान पर बिस्तर लगा था। जब गत नवम्बर में आया था तो बिस्तर फर्श पर ही था मगर इस बार मेरे लिये पलंग की व्यवस्था कर दी गई थी।

राय दम्पत्ति और सब बच्चे फर्श पर ही बिस्तर लगाते हैं। यहाँ आने से पहले राय साहब कश्मीर में बी.एस.एफ. के डी.आई.जी. पद पर तैनात थे। वहाँ से तबादला हुआ तो सारा सामान इलाहाबाद ही छोड़ आए। उन्हें यहाँ 'नेशनल एकेडेमी' में साम्प्रदायिकता पर शोध करने को एक वर्ष की अवधि मिली है। एकेडेमी की लायब्रेरी इतनी बड़ी और पुस्तकों से इतनी सम्पन्न है कि शोधार्थी को इधर-उधर जरा भी नहीं भटकना पड़ता है। सच पूछिये तो वह एक मुमुक्षु शोधार्थी के रुप में यहाँ डटे हुए है।

फर्क देखिये कि डी.आई.जी स्तर का पुलिस अधिकारी जब अपने पद पर तैनात होता है तो उसे अधिकार सम्पन्न व्यक्ति की सभी सुविधाएँ मुहैया की जाती हैं मगर जैसे ही वह कुछ वक्त के लिए उधर से उपराम होता है उसे उस स्तर की एक भी सुविधा उपलब्ध नहीं होती। तीन कमरों के मामूली से सैट में उनकी रिहायश है। नौकर-चाकर, चपरासी, बरकन्दाज, सिक्योरिटी गार्ड का तो दूर-दूर तक कोई अता-पता ही नहीं चलता। जब तक वह अपनी निजी गाड़ी नहीं लाए थे वे बसों से या पैदल ही इधर-उधर आते-जाते थे। कई बार सोचता हूँ कि पुलिस के कई ज़हीन और आलादिमाग अफसर शोध करने का खब्त शायद इसीलिए नहीं पालते कि उन्हें शासन करने का रौब-दौब और बेपनाह सुविधाओं को लात मारकर वनवास भोगना पड़ेगा ।

४ जनवरी १९९५

आज सुबह से ही कई जगह फोन करके तेलगू लेखकों से सम्पर्क साधने की कोशिश चल रही है। अभी-अभी श्री शेषेन्द्र शर्मा जो तेलगू के प्रतिष्ठित कवि-लेखक हैं, से ६ जनवरी की शाम को मिलने की बात तय हुई है। शेषेन्द्र जी को उनके तेलगू साहित्य पर इस वर्ष का साहित्य एकेडेमी पुरस्कार मिलने की घोषणा हो चुकी है। उनकी कविताओं और गद्य रचनाओं का ओम प्रकाश निर्मल ने हिन्दी में मानक अनुवाद प्रस्तुत किया है। जिसे इलाहाबाद से 'लोकभारती प्रकाशन' ने प्रकाशित किया है तथा श्री नरेश मेहता ने उनके काव्य पर एक गहरी और व्यापक विश्लेषणात्मक भूमिका लिखते हुए उन्हें 'काव्य गन्धर्व' के रूप में याद किया है।

५ जनवरी १९९५

आज सुबह ही शशि नारायण स्वाधीन का फोन आया कि वारंगल जेल में पुलिस के अत्याचारों से पीड़ित एक कैदी की मृत्यु हो गई है और कैदियों ने हड़ताल कर दी है। जेल के कैदियों पर जो अमानवीय अत्याचार हो रहे हैं उसके विरुद्ध विरसम (विप्लव रचियता संघम) के दो अत्यन्त

महत्वपूर्ण कवियों श्री बरबर राव और गद्दर ने भी सचिवालय के निकट भूख हड़ताल शुरू कर दी है। यह दोनों विप्लवी कवि प्रायः सरकारी कोप के शिकार होते रहते हैं और उनको संवाद के लिए पा जाना बड़ी बात है।

६ जनवरी १९९५

जैसा कि पहले ही तय हो चुका था तेलगू कवि श्री शेषेन्द्र शर्मा से भेंट हुई। उन्हें 'काल रेखा' नामक कृति पर साहित्य का (केन्द्रीय साहित्य अकादेमी) पुरस्कार मिला है। यह कितनी बड़ी विडम्बना है कि जो व्यक्ति तेलगू का एक महत्वपूर्ण कवि है उसे कविता की किसी कृति पर अकादेमी का पुरस्कार नहीं मिलने जा रहा है बल्कि फुटकर लेखों के संग्रह पर यह सम्मान घोषित हुआ है।

जब मैं नवम्बर १९९४ में हैदराबाद आया था तब भी शेषेन्द्र जी से मिलने का मन था। उन्हीं दिनों मैंने उनकी काव्य पुस्तक 'मेरी धरती मेरे लोग' पढ़ी थी। इसमें उनकी कई काव्यकृतियाँ समाहित थी 'मेरी धरती मेरे लोग', 'दहकता सूरज', 'गुरिल्ला' और 'प्रेम पत्र'।

शेषेन्द्र शर्मा एक भव्य राजप्रसाद में रहते हैं जिसका ऐश्वर्य और सम्पन्नता चकित करने वाले हैं। 'ज्ञान बाग पैलेस' सम्भवतः पिछली शताब्दी में निर्मित स्थापत्य कला का एक अद्‌भुत निदर्शन है। १९७७ में अंग्रेजी की प्रसिद्ध कवयित्री राजकुमारी इन्दिरा धनराज से उनका प्रेम विवाह हुआा था।

राय साहब और स्वाधीन के साथ शाम लगभग सात बजे मैं उनके राजप्रसाद पहुँचा। महल के द्वार पर ही हमारी अगवानी के लिए एक व्यक्ति मुस्तैदी से खड़ा था। वह हमें भीतर लेकर गया तो पाया कि एक लम्बे चौड़े हॉल में पति-पत्नी दोनों ही प्रतीक्षातुर बैठे हैं।

शेषेन्द्र जी ६८ के और उनकी पत्नी लगभग पचपन वर्ष की हैं पर उन दोनों की सुन्दर और आकर्षक देहयष्टि को देखकर उनकी वास्तविक उम्र का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। सही शब्दों में वह दोनों गन्धर्व प्रजाति के ही लगते हैं। यह बात कभी नरेश मेहता ने उन्हें देखते ही कहीं थी।

उनके उस लम्बे चौड़े दीवानखाने की छतें बहुत ऊँची, दीवारे कई-कई फीट चौड़ी और भव्य फर्नीचर, राजसी विलास, ऐश्वर्य और शालीनता का मुखर वातावरण प्रस्तुत करता है।

श्रीमती इन्दिरा देवी सामने के सोफे पर आसीन थीं तो शेषेन्द्र जी दीवार से लगे सोफे पर। मैं और विभूति जी शेषेन्द्र के सामने बैठ गये। मेरी आँखे छत से लटके झाड़फानूसों पर गई तो मैंने पाया कि छत में शिल्प और रंगों की अद्‌भुत छटा का समावेश है।

लोगों के बैठते ही सेवक ट्रे में पानी के गिलास ले आया और उसके तुरन्त बाद मिष्ठान्न और कॉफी लेकर उपस्थित हो गया।

उस राजसी परिवेश में रहकर कोई व्यक्ति स्वप्निल संसार में तो विचरण करता रह सकता है पर यह बात समझना, अत्यन्त कठिन है कि वह 'मेरी धरती मेरे लोग' जैसी जमीन से जुड़ी कविता की रचना भी कर सकता है। असम्भव तो कुछ नहीं कहा जा सकता आख़िर कवीन्द्र रवीन्द्र भी तो राजसी ऐश्वर्य और परिवेश की उपज थे।

हमें बतलाया गया था कि शेषेन्द्र जी तेलगू से भी पहले संस्कृत के विदग्ध विद्वान हैं। उन्होंने व्यास, बाल्मीकि और कालिदास की रचनाओं का न केवल अवगाहन किया है वरन् उनकी विस्तृत काव्य-भूमि और व्यापक काव्याकाश में भी मुक्त विचरण किया है।

भौगोलिक कारणों से एक ही भाषा का उच्चारण अलग-अलग स्थानों पर बदलता रहता है पर शेषेन्द्र जी का हिन्दी उच्चारण प्रायः निर्दोष और सहज है, वाणी के पीछे स्वाध्याय और ज्ञान की गरिमापूर्ण परम्परा का भी निर्वाह होता दीख पड़ता है।

बात उनकी कविता से ही आरम्भ हुई उन्होंने बतलाया कि काव्य रचना करते हुए उन्हें लगभग

पचास वर्ष होने जा रहे है। कविता के साथ-साथ उन्होंने तेलगू और अंग्रेजी में अनेक गवेषणात्मक लेख भी लिखे हैं। बातचीत के दौरान अनेक बार वेदव्यास और बाल्मीकि के श्लोकों की आवृत्ति भी होती रही। यह बात भी सामने आई कि परवर्ती कवियों की भावभूमि का निर्माण पुराकाव्य से भी बहुत कुछ हुआ। उन्होंने कहा 'कालिदास की बहुत सी काव्य सम्पदा बाल्मीकि की भाव एवं प्रतिपाद्य की ऋणी है।'

इस बढ़ती आयु में भी उनकी स्मृति विलक्षण है। ज्ञान के अगाध समुद्र में अवगाहन करने वाले शेषेन्द्र जी का चिन्तन आज के प्रश्नों के सम्बन्ध में भी पूर्णतया जागरूक है। मैंने इसी परिप्रेक्ष्य में उनसे एक जटिल सवाल पूछ लिया 'जब हम अपने ज्ञान, दर्शन और आध्यात्म के अनन्त विस्तार पर दृष्टि डालते हैं तो लगता है उसका तो कोई ओर-छोर ही नहीं है परन्तु उसका उपयोग क्या है? इसी देश में थोड़े से लोगों को छोड़कर बाकी को क्या मिलता है? हजारों वर्षों से अधिकांश जन शोषण की चक्की में पिसते चले आ रहे हैं। यह गहन ज्ञान, आध्यात्म और दर्शन की गरिमा कहाँ और किसके पक्ष में रेखांकित होती है? हमारे उत्कृष्ठ काव्य, साहित्य और दर्शन का विस्तार किसकी चेतना को संस्कारित कहने के लिए है।'

मेरा प्रश्न सुनकर वह गम्भीर हो गए और बाद में शान्त चित्त से अपनी बात कहने लगे। देखिये! हमारा समाज, जाति, वर्ण, वर्ग में विभाजित होकर स्खलित हो गया है। यदि हमने समय रहते मानवीय समता को एक सामूहिकता न दी तो कहा नहीं जा सकता कि कितना बड़ा और विनाशकारी विस्फोट होगा। फिर उस ज्वालामुखी से क्या कुछ अछूता रह जाएगा?'

हम लोंगों को गम्भीर बातें करते हुए लगभग दो घंटे बीत चुके थे। अब हमने उनके राजप्रसाद और उसकी साज सज्जा के संदर्भ में सुरुचिपूर्ण कलाकृतियाँ तथा चित्रादि देखने की इच्छा व्यक्त की। इस पर इन्दिरा देवी उत्साह से पुलकित हो उठीं और बोली 'चलिये चलिये!वह सब तो जरूर देखिए।'

विदा देते समय शेषेन्द्र जी ने तेलगू से हिन्दी में अनूदित कृतियाँ तथा अंग्रेजी की कुछ पुस्तकें हमें भेंट कीं। साथ ही अपने तथा इन्दिरा देवी के कई भव्य चित्र भी दिए।

जब हम राजप्रसाद की सीढ़ियों से नीचे उतर रहे थे उन्होंने संस्कृत का एक श्लोक पढ़ा- यदि जीवन है तो मिलना भी ध्रुव सत्य है।

७ जनवरी १९९५

आज सुबह 'दक्षिण समाचार' के सम्पादक मुनीन्द्र जी का फोन आया कि 'आन्ध्र प्रदेश हिन्दी अकादेमी' के अध्यक्ष श्री बालशौरि रेड्डी से भेंट करने जा रहे हैं। अगर हमारा मिलने का विचार हो तो गाँधी भवन पहुँच जाएं और उनके साथ 'बंजारा हिल्स' की ओर प्रस्थान कर जाएं।

मुझे हैदराबाद के स्थानों और उनकी दूरी का कोई अनुमान नहीं है, इसलिए विभूति जी के साथ ही निकलना सम्भव हो पाता है। मैंने मुनीन्द्र जी को बतला दिया कि राय साहब इस समय घर पर नहीं हैं, वह डायरेक्टर महोदय से मिलने गए हैं। उनके लौटने पर ही मेरा आना सम्भव हो पाएगा।

संयोग ऐसा हुआ कि राय साहब उसी वक्त लौट आए। मैंने मुनीन्द्र जी को बतला दिया कि हम दोनों जल्दी ही निकल रहे है। पर हम मुनीन्द्र जी के घर जाने के बजाय 'बंजारा हिल्स' की दिशा में ही निकल गए। वहाँ पहुँचने में ज्यादा टक्करें नहीं खानी पड़ीं।

रेड्डी जी उस समय भोजन करने गए थे। हमने मुनीन्द्र जी को अपने पहुँच जाने की सूचना भेज दी। वह भी दसेक मिनट में रेड्डी जी के निवास पर जा पहुँचे। थोड़ी देर बाद रेड्डी जी भी आ गए। परिचय होने के बाद हम लोग इत्मीनान से बैठकर बातें' करने लगे। बातों-बातों में रेड्डी जी ने

बतलाया कि काँग्रेस सरकार के पतन से सारी स्थिति बदल गई है और वह एक दो दिन में ही अपना त्याग-पत्र देने जा रहे हैं।

रेड्डी जी मद्रास में तेईस वर्षों तक हिन्दी बाल पत्रिका 'चन्दामामा' का संपादन करते रहे थे। इसी दौरान उन्होंने वहाँ अपना मकान बनवा लिया था। 'चन्दामामा' की संपादकी से मुक्त होने के उपरान्त वह कलकत्ता 'भारतीय भाषा परिषद्' के अध्यक्ष होकर चले गए थे। भास्कर राव रेड्डी के बुलावे पर वह यहाँ 'आन्ध्र प्रदेश हिन्दी अकादेमी' के अध्यक्ष पद पर आसीन हुए थे।वह सोचते हैं कि यह उनका नैतिक कर्त्तव्य बनता है कि वह आमंत्रित करने वाली सरकार के पतन पर स्वयं ही त्याग-पत्र दे दें। रेड्डी जी सत्तर पार कर चुके हैं और यहाँ से मुक्त होकर अपने घर मद्रास जाना चाहते हैं।

मुझे याद आया कि मैं १९७४ जनवरी में एक बार मद्रास में कई मित्रों के साथ 'चन्दमामा' कार्यालय उनसे भेंट करने गया था। उन दिनों समान्तर कथा का सम्मेलन कालीकट में होने जा रहा था। मैं, कमलेश्वर जी, कामतानाथ, आबिद सुरती, राम अरोड़ा, सुदीप और आशीष सिन्हा वगैरह कई लोग मइलापुर में इब्राहिम शरीफ की व्यवस्था के चलते एक हिन्दी प्रेमी महिला हेमलता जी के घर में ठहरे थे।

मैंने जिक्र किया तो उन्हे बीस साल पहले की उस भेंट की तुरन्त याद आ गई। उन्होंने अपने अल्पकालीन प्रवास में यहाँ जो हिन्दी का काम किया था उसके विषय में बतलाने लगे। उन्होंने वह पुस्तकें मंगवाई जो इस दौरान प्रकाशित हुई थीं। उनमें प्रधान मंत्री नरसिंह राव के जीवन-वृत्त पर प्रकाशित एक सचित्र पुस्तक भी थी। तेलगू के महत्त्वूपर्ण कवियों का जीवन परिचय और उनकी रचनात्मक उपलब्धियों की जानकारी देने वाली किताबें वास्तव में एक उपलब्धि कही जा सकती हैं।

अपनी जीवन रेखा पर प्रकाश का डालते हुए रेड्डी जी ने बतलाया कि उन्होंने दक्षिण में हिन्दी प्रचारक के रूप में ही अपने जीवन का श्रीगणेश किया था और बहुत से कड़वे-मीठे अनुभवों से गुजरे थे। बाद में जाकर भी वह हिन्दी को ही समर्पित हो गए। हिन्दी का प्रचार-प्रसार करने के क्रम में वह कई दफा विदेश यात्राएँ भी कर चुके थे।

रेड्डी जी बड़े सहृदय और मधुर भाषी सज्जन हैं। उनके व्यक्तित्व में पारदर्शिता के दर्शन होते हैं। बातों के दौरान कॉफी आ गई। वह आगामी १० जनवरी को मद्रास जाने की सोच रहे हैं और इससे पहले ही अपने अध्यक्ष पद से शायद इस्तीफा भी दे देंगे।

अपने काम के विषय में जानकारी देते हुए उन्होंने बतलाया कि हिन्दी के साथ-साथ उन्होंने अपनी मातृभाषा तेलगू में भी खूब लेखन किया है। उन्होंने गहरा क्षोभ व्यक्त करते हुए कहा 'आज सारे पदों पर नियुक्ति राजनीतिक दृष्टि से और स्वार्थ प्रेरित कारणों से ही होती है। इसका घातक प्रभाव यह होता है कि साहित्यिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में सक्रिय व्यक्तियों को सत्ता के मोहरे बदलते ही हटा दिया जाता है। उनका किया हुआ कार्य किसी सकारात्मक परिणाम पर पहुँच ही नहीं पाता।'

रेड्डी जी की वेदना मन को छूती है। वह यहाँ रहकर जो काम, समर्पित भाव से कर रहे हैं उसके लिए उनसे अधिक उपयुक्त व्यक्ति और कौन हो सकता है? हो सकता है एन.टी रामाराव की सरकार की नज़र में इस कार्य को सम्पन्न करने वाला कोई व्यक्ति पहले से ही हो।

रेड्डी जी ने राय साहब और मेरे लिए कुछ पुस्तकें पैकेट में बधँवा कर हमें भेंटस्वरूप दीं तो हमने उनके प्रति गहरा आभार व्यक्त किया और उनसे विदा लेकर चल पड़े।

रेड्डी जी के कार्यालय से बाहर निकलकर हम मुनीन्द्र जी के साथ कवि वेणुगोपाल से मिलने के लिए कोट्टी में 'विवेक वर्धिनी' महिला कॉलेज की ओर चल पड़े। वह उस कॉलेज में हिन्दी का अध्यापन कार्य करते हैं।

८ जनवरी १९९५

जब से मैं यहाँ एकेडेमी में आया हूँ सुबह रोज घूमने निकल पड़ता हूँ। मेरी आँखें भिनसारे में कभी चार तो कभी पाँच बजे जरूर खुल जाती है। जाड़े की सुबह सूरज जल्दी नहीं निकलता मगर कहीं दूर से आती अजान की सदा, सामने के आकाश में उभरता हल्का सिंदूरीपन और सबसे ऊपर खिड़की पार के लॉन में खड़े लम्बे घने वृक्षों से रात का बसेरा छोड़ते विहगवृन्द का कलरव मुझे अनायास जगा देता है।

जब से मैं यहाँ आया हूँ पद्मा जी रसोई का दरवाजा बंद नहीं करवातीं एक तरह से खुला ही छुड़वा देती हैं। गैस के चूल्हे के पास ही माचिस, चीनी, चाय की पत्ती और दूध रखवा देती हैं। रात में नौकर अपने क्वार्टर में सोने चला जाता है और सुबह देर से आता है। बच्चे सवा आठ तक स्कूल के लिए निकल पड़ते हैं। पद्मा जी ही उन्हें जगाती हैं और फिर नौकर की सहायता से उन्हें तैयार करने में व्यस्त हो जाती हैं। बच्चों के स्कूल चले जाने के बाद वह भी ज्यादा देर घर में नहीं ठहरतीं। राय साहब ज्यों ही लायब्रेरी के लिए निकलते हैं वह भी कैम्पस में ही स्थित एक स्कूल में पढ़ाने चली जाती हैं।

पद्मा जी ने वनस्थली से एम.एससी. किया है। पढ़ने वाले बच्चों की सहायता करने में उनकी गहरी दिलचस्पी है। वह घर में शाम को रोज नियम से तीनों बच्चों के साथ बैठती हैं। घर के बच्चों के साथ-साथ पड़ोस के पुलिस अधिकारियों के कितने ही बच्चों को भी स्नेह से पढ़ातीं हैं। स्कूल में भी वेतन के लिए नहीं पढ़ातीं यह उनका शौक है जो वह राय साहब के किसी भी शहर में तबादला हो जाने के साथ ही शुरू कर देती हैं।

मैं मुँह अंधेरे घर से निकलकर पुलिस एकेडेमी के पूरे परिसर का एक चक्कर लगाने के बाद ही लौटता हूँ। रास्ते भर पूरा सन्नाटा संवाद करता लगता है। दूर तक फैली वर्तुल सड़कें भी लगभग खाली ही मिलती हैं। सिर के ऊपर पूरा निरभ्र नीला आकाश और कहीं से भी कैसी भी ध्वनि नहीं। ऐसी स्थिति में चेतना में न जाने कितनी बातें और दृश्य उभरने लगते हैं।

दूर-दूर तक स्वच्छ और नरम हरापन तथा पहाड़ों पर फैली उत्तुंग चट्टानों के अलावा कुछ भी नहीं दिखता। पहाड़ सुरमई और सिलहुत नज़र आते है। यह सारा मौन काव्य निशब्द होकर भी मुखरित होता लगता है।

मैं एक मोड़ से गुजरता हूँ तो सरदार बल्लभभाई पटेल के भव्य और रौबीले स्टेच्यू पर आँखें ठहर जाती हैं। यह एक काफी ऊँचे मंच पर स्थापित है। इसके चारों ओर खम्भों पर लोहे की जंजीरों का घेरा है और बाहर स्तम्भ पर अलस मुद्रा में एक सिंह पसरा हुआ है। साथ ही अंग्रेजी में एक सूक्ति अंकित हैः एनीमल्स हैव इन देयर आईज ए पावर टू एक्सप्रेस ए ग्रेट लैंग्वेज (जानवरों की आँखों में भावाभिव्यक्ति की एक जबरदस्त प्रभावोत्पादक भाषा होती है।

इतने स्वस्थ और मनोरम वातारण में भी पता नहीं क्यों मैं भीतर से उखड़ा-उखड़ा रहता हूँ। दूर-दूर तक फैले इस निसर्ग में रमे रहकर भी मुझे कभी-कभी ज़िन्दगी एक निहायत बदसूरत बुढ़िया जैसी क्यों लगती है?अजब बात है कि मेरे चित्त में कोई भी संवेदना स्थायी बनकर थोड़ी सी देर भी नहीं ठहर पाती। क्या यह बढ़ती उम्र का प्रभाव है। आईने में अपना स्वरूप देखता हूँ तो बहुत साफ ढंग से लक्षित होने वाला बुढ़ापा भी नज़र नहीं आता। थोड़ी उम्र के कितने ही नौजवान मेरे मित्र हैं। वह मुझसे खूब घुले-मिले भी हैं। वह लोग मुझे अपने बीच का नवयुवक चाहे न भी मानते हों पर मेरी बुढ़ापे की ओर सरकती आयु उन्हें मुझसे विरत नहीं करती।

घर में रहते हुए या घर से बाहर चले जाकर भी मैं एक अपरिभाषित बेचैनी में रहता हूँ। कवि

लेखक चितेरे सभी मेरे परिचय के क्षेत्र में हैं। बातें करते हुए उनकी निश्छल प्रसन्न मुद्रा भी कहीं से बनावटी नहीं लगती पर पता नहीं थोड़ी ही देर में क्या हो जाता है कि मुझे सारा कुछ व्यर्थ लगने लगता है। कभी की पढ़ी कवि नरेन्द्र शर्मा की यह पंक्तियां लगता है जैसे मुझको ही सम्बोधित हों–

उड़ा उड़ा सा जी रहता है
चूर-चूर विश्रान्त शरीर।
दूर देश उड़ने को आतुर
अकुलाए से प्राण अधीर

जब आदमी अकेले में, सन्नाटे में होता है तो विचारों का तो जैसे मस्तिष्क में एक तूफान ही उठ खड़ा होता है और आदमी येन केन प्रकारेण मृत्यु चिन्तन की उपेक्षा नहीं कर पाता।

मैंने कहा दुनिया एक बदसूरत बुढ़िया दिखाई पड़ती है पर दुनिया पुरानी और बदरंग कैसे हो सकती है? इसमें हंसते, खिलखिलाते उस उम्र के बच्चे हैं जैसा कभी मैं भी था। फिर दिल में बुलन्द इरादे और आँखों में मीठे सपने जीने वाले सुन्दर और बाँके युवक-युवतियाँ भी हैं। मैं अपने इस बचपन को भी अभी कहाँ भूला हूँ जब बागों में घुसकर आम अमरूदों की चोरी करने से बाज नहीं आता था। जाड़ों के दिनों में किसानों के आसपास न होने पर ईंख के खेत में घुसकर एक साथ कई गन्ने चटका लेता था। आज भी तो वैसा ही अल्हड़ बपचन मेरे चारों ओर फैला पड़ा है। किशोरावस्था की एक तरंगवती नदी आज भी बहती चली जा रही है। पर यह क्यों हो रहा है कि मै केवल उसकी एक याद भर हूँ। दूर के दृश्यों का मानस साक्षी। शायद कोई भी, दृश्यों के ओझल हो जाने पर घटित का साक्षी ही रह जाता है। इसमें विचित्र क्या है?

अनजाने में यही सब ऊल जलूल सोचते हुए मैं घर के दरवाजे तक आ पहुँचा।

१३ जनवरी १९९५

कल मुनीन्द्र जी का फोन मिला था कि उन्होंने श्री भीमसेन निर्मल को श्री सी.नारायण रेड्डी से मिलवाने का उत्तरदायित्व सौंपा है। हम लोग ठीक तीन बजे गाँधी भवन पहुँच जाएँ। रेड्डी जी 'ज्ञानपीठ पुरस्कार' से सम्मानित एक महत्त्वपूर्ण तेलगू कवि हैं।

मैं राय साहब के साथ ढाई बजे ही निकल गया और तीन बजते-बजते हम गाँधी भवन जा पहुँचे। दसेक मिनट बाद तेलगू साहित्य के सिद्ध अनुवादक भीमसेन निर्मल भी आ गए।

हम चारों जने रेड्डी से मिलने के लिए चल पड़े। रेड्डी जी, गाँधी भवन से काफी दूर रहते हैं इसलिए हमें वहाँ तक पहुँचने में करीब चालीस मिनट लग गए।

एक पहाड़ी पर उनका शानदार 'विला' है। रास्ते में निर्मल जी ने बतलाया कि श्री सी.नारायण रेड्डी तेलगू के एक ऐसे कवि है जिन्होंने फिल्मों के लिए तीन हजार गीत लिखे हैं। मुझे उनकी बात सुनकर घोर आश्चर्य हुआ कि जिन रेड्डी जी को १९८९ का 'विश्वम्भरा' काव्य पर 'ज्ञानपीठ पुरस्कार' मिला है वह फिल्मी गीतकार भी हैं। हमारे यहाँ हिन्दी में कवियों को तो फिल्मी गीतकार के रूप में प्रायः घोर असफलता ही हाथ लगी है। फिल्मों में कितने ही बड़े छोटे कवि गये पर अक्सर निराश होकर ही लौटे।

रेड्डी जी के 'विला' में घुसते हुए लगा कि हम किसी अत्यन्त भद्र और ऐश्वर्यवान व्यक्ति के आवास में प्रवेश कर रहे हैं। दरवाजे में घुसते ही पूरे हाल में कीमती गालीचा बिछा दिखाई पड़ा।

उनकी सुपुत्री हमारा मार्गदर्शन करते हुए हमें वहाँ तक ले गई थीं। उस कक्ष में जाते हुए हम जिस जीने की सीढ़ियाँ चढ़ते हुए आए थे उसकी सीढ़ियों पर भी लाल रंग का कार्पेट और जीने की दीवारों पर कोणार्क के कई रथचक्र तथा काँसे की अनेक कलाकृतियाँ दिखाई पड़ीं।

रेड्डी जी को हमारे आने की सूचना दे दी गई। हम लोग अभी सोफों पर टिके ही थे कि रेड्डी महाशय मुस्कराते हुए आ गए। नमस्कार प्रति-नमस्कार के बाद वह भी दीवार से सटे एक लम्बे चौड़े सोफे पर आसीन हो गए।

मेरी नजर खुली खिड़की के पार गई। दूर-दूर तक पहाड़ियों का सिलसिला चला गया था। कवि जी ने अपने निवास के लिए वास्तव में काव्यात्मक परिवेश ही चुना था।

बातें चल निकली। मैंने उनसे पूछा ''क्या आपने किसी महाकाव्य की रचना भी की है।''

रेड्डी जी बोले अब महाकाव्यों की परम्परा तो समाप्तप्रायः है। मैंने 'दीर्घकाव्य विश्वम्भरा' लिखा है- जिसका कलेवर भी बहुत सीमित यानी सौ पृष्ठों में समाहित है।

इस काव्य में मैंने किसी भी महापुरुष का उल्लेख नहीं किया है बस उसकी छवि को रूपायित करने वाले प्रतीक चुने हैं। लम्बी कविता में बुद्ध, सुकरात, ईसा, सिकन्दर, गाँधी आदि की जीवन रेखाओं को सांकेतिक रुप में प्रस्तुत किया है। पाठकों को इन विभूतियों को पहचानने में कोई कठिनाई नहीं होती।

रेड्डी जी सम्भवतः साठेक साल के होंगे, गौर वर्ण, मंझौला कद और स्थूलता की ओर जाती देहयष्टि के स्वामी हैं। सिर पर आगे के बाल कम हो रहे हैं पर जो बाकी हैं वह काफी घने हैं। व्यक्तित्व उनका आकर्षक है और बहुत उत्साहपूर्ण बातें करते हैं। उनसे बातें, बोलचाल की हिन्दी में ही चलती रहीं। उन्होंने अपनी बातचीत के दौरान हमारे हिन्दी के मंचीय गीतकार नीरज का कई बार नामोल्लेख किया और यहाँ उनके अपने घर में आने की बात भी कहीं। इसी सन्दर्भ में उन्होंने अपने हिन्दी और उर्दू में गज़ल लिखने का भी ज़िक्र किया।

हिन्दी में रुबाई में चार पंक्तियाँ होती हैं पर उन्होंने 'प्रपंच पदी' की रचना की है जिसमें पाँच पंक्तियाँ होती हैं। वह मुख्यतः संगीत से अनुस्यूत गीत पदों की रचना करते हैं। यों वह गद्य कविता और मुक्त छंद भी लिखते हैं। तुलनात्मक आलोचना में भी उनका दख़ल है।

हमारे बैठे-बैठे कई फिल्म निर्माताओं के फोन आते रहे। फोन 'काल्स' से मुक्त होकर उन्होंने बतलाया कि तेलगू में ताजमहल पर एक फ़िल्म बन रही है जिसमें उनसे गीत माँगे जा रहे हैं। इसी सन्दर्भ में लिखे गए एक गीत की पंक्ति उन्होंने सुनाई। जिसमें ताजमहल को समय के गाल पर चाँद का टुकड़ा बतलाया गया था। मैंने राय साहब की ओर देखा इस अभिप्राय से कि क्या रेड्डी जी ने रवीन्द्रनाथ की ताजमहल कविता और ताजमहल को काल के गाल पर ठहरा हुआ आँसू बताने वाली पंक्ति नहीं पढ़ी होगी?राय साहब मेरी दृष्टि का आशय तो तुरन्त समझ गए पर उन्होंने इस नाजुक विषय पर कोई टिप्पणी नहीं की।

वार्तालाप के दौरान चाय आ गई। बातें करते, चाय पीते लगभग एक घंटा हो चुका था।

चलने से पहले उन्होंने हमे अनेक पुरस्कारों वैजयन्तियों और प्रशस्तियों की झलक दिखलाई जो उनकी अनेक आलमारियों की शोभा बढ़ा रही थी। हमे लगा दुनियावी स्तर पर सभी सफल आदमियों में एक ऐसा बच्चा जरूर होता है जिसे अपने कीमती खिलौनों पर बहुत नाज़ होता है और वह उन्हें दिखाने के बाद शाबासी पाने के लिए बहुत उत्सुक होता है। जाहिर है हमने इस दिशा में उन्हें जरा भी निराश नहीं किया।

१५ जनवरी १९९५

कल शाम हिन्दी लेखक संघ की ओर से शाम सात बजे हिन्दी प्रचार सभा के सभागार में एक गल्प संध्या का आयोजन किया गया था। जिसमें पवित्रा अग्रवाल और चांगटी तुलसी को कहानियाँ पढ़नी थी। निमंत्रण पत्र में मेरा भी नाम दिया था पर मैं तो अपने साथ कोई कहानी लाया ही नहीं था

इसलिए कार्यक्रम के शुरू में ही अपनी असमर्थता जतला दी।

कार्यक्रम शुरू होते समय श्रोताओं की संख्या पच्चीय-तीस रही होगी पर बाद में लोग आते ही चले गए और सभागार पूरा भर गया।

विभूति नारायण जी को अध्यक्षता करने के लिए मंच पर ले जाया गया। मुझे भी विशिष्ट अतिथि का दर्जा देकर मंचासीन होने को कहा गया। मेरे बाद 'भुवनवाणी' ट्रस्ट के संचालक विनय कुमार अवस्थी, जो लखनऊ से पधारे थे, को मंच पर आने के लिए आमंत्रित किया गया। उनके बाद एक सज्जन जो पूना अथवा मुंबई से आये थे साठे महोदय को मंच पर पहुँचाया गया। विनय कुमार के पिता श्री नन्द कुमार अवस्थी ने 'भुवनवाणी' ट्रस्ट की स्थापना करके एक बड़े मार्के का काम यह किया है कि इस देश की किसी भी भाषा में लिखी गई रामायण का लिप्यान्तरण मूल भाषा से हिन्दी में किये जाने की पक्की व्यवस्था कर दी गई है। इसी तरह 'कुरआन' का अरबी भाषा से हिन्दी में लिप्यान्तरण सुलभ करा दिया है। साथ ही लिप्यान्तरण सभी पुस्तकों का हिन्दी तथा अन्य चौदह भाषाओं में अनुवाद भी उपलब्ध करा दिया है। यही नहीं 'भारती मन्दिर' की स्थापना भी कर दी है। जिसमें प्रत्येक भारतीय भाषा की मूल लिपि का संगमरमर की शिलाओं पर उत्कीर्ण करने का काम जारी है। इसी क्रम में 'आजाद कथा' के आठों भागों का हिन्दी में लिप्यान्तरण तथा अनुवाद भी कराया जा रहा है।

इसी कड़ी में भुवनवाणी ट्रस्ट ने तमिल के वयोवृद्ध विद्वान शेषाद्रि द्वारा प्रस्तुत सुब्रह्मम भारती के शताब्दीं वर्ष में उनकी रचनाओं के अनुवाद ही प्रकाशित नहीं किये वरन उनकी कुल रचनाओं के छः हजार पृष्ठों को तमिल से हिन्दी में लिप्यान्तरण भी करवा दिया है।

इस दुर्लभ अनुष्ठान के लिए संसाधन जुटाना और भिन्न-भिन्न भाषाओं के अधिकारी हिन्दी अनुवादकों को खोज पाना किसी कठिन चुनौती से कम नहीं हैं।

श्री भीमसेन निर्मल की जो उस्मानिया यूनीवर्सिटी के हिन्दी अध्यक्ष पद से अवकाश ग्रहण कर चुके गहरी पैठ है वह इस 'भुवनवाणी' ट्रस्ट के लिए समर्पित भाव से कार्य कर रहे है। इसी प्रकार हिन्दी मराठी के विद्वान साठे जी भी ट्रस्ट से गहरा जुड़ाव रखते हैं।

मंचासीन सज्जनों के स्वागत सत्कार के बाद नेहपाल वर्मा जी ने पवित्रा अग्रवाल को कहानी पढ़ने के लिए आमंत्रित किया। उन्होंने कहानी पाठ से पहले बतला दिया कि उनकी कहानी 'मैत्री का रिश्ता' लगभग सोलह वर्ष पहले छपी थी और उसके बाद इतने लम्बे समय में उन्होंने कोई अन्य कहानी नहीं लिखी है।

पवित्रा अग्रवाल के बाद चांगटी तुलसी ने जो उड़ीसा में हिन्दी की अध्यक्षा हैं- को आमंत्रित किया गया। श्रीमती तुलसी के पिता श्री चांगटी सोमैया तेलगू साहित्य के एक बड़े कथाकार थे। कुछ वर्ष पूर्व उनका अस्सी वर्ष की उम्र में देहावसान हो गया है। वह एक समर्पित प्रगतिशील और 'आन्ध्र प्रगतिशील लेखक संघ' के अध्यक्ष थे। श्रीमती तुलसी ने बतलाया कि अपने लेखन के प्रति वह हमेशा एक कठिन रुख अपनाए रहे और उन्होंने अपनी अधिकांश कहानियों को खारिज कर दिया। केवल चालीसेक कहानियां ही बाकी बची हैं। प्रगतिशील होने के बावजूद वह वैचारिक कट्टरता और नारेबाजी पसन्द नहीं करते थे। अपनी सोच के प्रति बेहद ईमानदार थे। मरणोपरान्त उन्होंने न केवल अपनी आँखें दान देने का संकल्प व्यक्त कर दिया था। बल्कि मेडीकल कॉलेज को देहदान की वसीयत भी लिख दी थी।

तो उन्हीं चांगटी सोमैया की पुत्री ने उनकी एक बहुत श्रेष्ठ और ख्यात कहानी 'रीठे के पत्ते' का वाचन प्रस्तुत किया। यह कहानी 'साहित्य अकादेमी' की पत्रिका 'समकालीन भारतीय साहित्य' में प्रकाशित हुई थी।

बाद में दोनों कहानियों पर परिचर्चा हुई और चायपान के बाद हम लोग लगभग दस बजे शिवराम पल्ली के लिए चले पड़े।

१५ जनवरी १९९५

आज मैं राय साहब के साथ रमन्तापुर हिन्दी के प्रसिद्ध कवि वेणुगोपाल के घर गया। हम दोनों को दोपहर का भोजन उन्हीं के यहाँ करना था। नेशनल पुलिस एकेडेमी से उनका आवास बहुत दूर है। रास्ते में रुक-रुक कर बहुत लोगों से पूछना पड़ा। कार से पहुँचने में भी घंटा भर से ऊपर लग गया।

वेणु गोपाल घर के बाहर खड़े प्रतीक्षा कर रहे थे। उनका दो कमरों का घर अच्छा साफ सुथरा है। आराम से बैठ जाने के बाद कुछ देर इधर-उधर की चर्चा हुई और फिर तेलगू साहित्य की आधुनिक गतिविधियों पर बातें होने लगीं।

मैंने वेणु गोपाल से कविताएँ सुनाने को कहा। उन्होंने कुछ पुरानी, कुछ नई कविताएँ सुनाई। उनकी कविता ''सब फुर्सत की बात है प्यारे' तो अनोखी है। यह शख्श निहायत सपाट सी भाषा में जो मर्म तक पहुँचने वाली बात कहता है वह देर तक सोचने को बाध्य करती है। उसका सपाटपन एक तरह की 'स्ट्रेटनेस' कही जा सकती है। वेणु गोपाल की कविताएँ बहुत छोटी हैं अक्सर दो-ढाई मिनट में ही समाप्त हो जाती हैं पर उनकी अनुगूँज आपके बाहर भीतर बहुत देर तक बनी रहती है। अस्सी के दशक के बाद गत पन्द्रह वर्षों में वेणु गोपाल का कोई कविता संग्रह नहीं छपा। यह भला आदमी इसको लेकर चिन्तित भी नहीं है। पर यह तो नहीं होना चाहिए। एक इतने महत्वपूर्ण कवि की रचनाओं का पाठकों के सामने न आना अन्याय जैसे लगता है।

वेणु गोपाल की पत्नी श्रीमती वीरा ने खाना तैयार कर लिया था। उनकी एकमात्र बेटी- जो दसवीं कक्षा में पढ़ती है- ने खाना मेज पर लाकर रख दिया।

हम लोगों का भोजन समाप्त हुआ तो वीरा जी अपना खाना लेकर एक स्टूल पर आ बैठीं और घुटनों पर थाली रखकर खाने लगीं। उनका खाना खत्म हुआ तो वह भी वेणु गोपाल की कविताएँ सुनने आ बैठीं।

वेणु गोपाल ने कविताएँ सुनाने के क्रम में २५ दिसम्बर वीरा के जन्म दिन पर लिखी चार कविताएँ भी सुना दीं। हमें पता था कि वीरा भी कविताएँ लिखती हैं। हमारे आग्रह पर उन्होंने कई कविताएँ सुनाई। उनकी 'माँ' कविता तो इतनी मार्मिक है कि मन की गहराईयों तक उतर जाती है।

आज ही के दिन दिगम्बर पीढ़ी के दो महत्वपूर्ण कवियों ज्वालामुखी और निखिलेश्वर से भी मिलने की बात तय हुई थी। वह दोनों भी इसी तरफ कहीं रहते थे। पर हम लोग अकेले पहुँचने की कोशिश में न जाने कितनी टक्करें खाते। इस लिए सुविधा की दृष्टि से वेणु गोपाल को साथ ले जाना निरापद लगा।

तीन बजे चाय पीकर निकले। ज्वालामुखी वहाँ से लगभग ४ मील दूर रहते थे। १५ मिनट से भी कुछ कम समय में हम ज्वालामुखी के यहाँ पहुँच गये। ज्वालामुखी को पहले से ही सूचना थी। इस लिए वह पहले घर के बाहर खड़े हमारी राह देख रहे थे। वह प्रसन्नतापूर्वक हम लोगों को अपने बैठक में ले गये। कमरे की सभी आलमारियाँ पुस्तकों से ठसाठस भरी थीं। ज्वालामुखी एक कॉलेज में तेलगू के प्रोफेसर हैं।

हम लोगों के पहुँचते ही भीतर के कमरे से निखिलेश्वर भी निकल आये। वह पेशे से अध्यापक ही हैं। कुछ ही मिनट गुजरे होगें कि चांगटी सोमैया की पुत्री, चांगटी तुलसी भी अंदर से आती दिखाई पड़ीं।

यहाँ लेखक सोमैया जी की स्मृति में १७ जनवरी की शाम पुरस्कार समारोह होने जा रहा है

और उसके सिलसिले में ही तुलसी हैदराबाद आयी हुई हैं। ज्वालामुखी ने बतलाया कि तुलसी, तेलगू-उड़िया की तो अच्छी जानकार हैं ही इन भाषाओं की रचनाओं का हिन्दी में अनुवाद करने में भी खूब निष्णात है।

चांगटी तुलसी से पिछले दिन हमारा परिचय हिन्दी प्रचार सभा में भी हो चुका था इसलिए बातचीत करने में आसानी हो गई।

आज के तेलगू साहित्य पर बातें चल निकलीं; ज्वालामुखी ने कहा ''नई पीढ़ी के अधिकांश लेखक जनसंघर्ष में सक्रिय रूप से जुड़े हुए हैं। इन लोगों की रचनाओं में वंचित, शोषित पीड़ित जन का दर्द भरा मुखर बयान है। हो सकता है आपको उनकी रचनाएँ कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण और पोस्टर बाजी लगें पर वस्तुस्थिति उससे भी कहीं अधिक भयानक है।'' उन्होंने विरसम कवि बरबर राव और गद्दर का भी उल्लेख किया। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया कि यह दोनों जन कवि लाखों लोगों के साथ संघर्षरत हैं और वह उनको ही उद्बोधन देने के लिए कविताएँ लिखते हैं। यह एक स्थान पर अधिक नहीं टिकते विशाखापतनम और तेलंगाना क्षेत्र में रहते हैं।

मैंने पूछा ''कुल मिलाकर आप कविता की भूमिका क्या मानते है?''

''निसन्देह रचनाशीलता का लक्ष्य जन जीवन की विराट चेतना से जुड़ना ही है। इसके लिए बहुत बारीक और कई पर्तों वाला शिल्प कारगर नहीं हो सकता। इस तरह के काव्य का सौन्दर्य शास्त्र खुरदरी स्थितियों के भीतर से उत्सर्जित होता है। जाहिर है रचना को शिल्प का बना बनाया ढाँचा तोड़ना ही पड़ता है।''

मैं बोला क्या सपाटपन में इकहरेपन का खतरा नहीं है।''

''हाँ! मैं उसे गौण बात मानता हूँ। काव्य का सौन्दर्य शास्त्र भी तो रचना विधान के अनुरुप ही होना चाहिए। प्रयोगशीलता अन्ततः स्वयं ही अपना शिल्प तैयार कर लेती है। ध्यान रहे कि यहाँ कलावाद को मैं शिल्प का प्रयोग नहीं मानता वह तो महज एक चटकीला फैशन भर है।

निखिलेश्वर बहुत देर से चुपचाप हमलोगों की बात सुन रहे थे। मैंने उनसे पूछा कि तेलगू काव्य में प्रबंध काव्यों की क्या सम्भावना है?''

'प्रबंध काव्यों के स्थान पर दीर्घ काव्यों की रचना अधिक सुकर है।लम्बी कविताएँ लिखी जा रही है। आप जानते हैं आज के जननायकों के गुण पुराकाव्यों के धीरोदात्त राजसी नायकों से मेल नहीं खाते, इसलिए दीर्घ काव्य ही अधिक अभीष्ट है।'

निखिलेश्वर की बात मुझे ठीक लगी क्योंकि सी.नारायण रेड्डी को भी महाकाव्य नहीं बल्कि दीर्घ कविता पर ही ज्ञानपीठ पुरस्कार मिला था।

मैंने उन लोगों से उनकी रचनाओं के प्रकाशन के विषय में पूछा तो पता चला कि उनके कई-कई काव्य संग्रह छपकर बिक चुके हैं। वह पेशेवर काव्य मंचों पर जाकर अपना काव्य पाठ नहीं करते बल्कि देहातों और मजदूरों के बीच जाकर कविताएँ सुनाते हैं। वहाँ साधारण क्लर्क, रिक्शा चालक, मजदूर छोटे स्कूलों के अध्यापक बीड़ी बनाने वाले और विद्यार्थी उनके श्रोता होते हैं। सुनने वालों की संख्या कभी-कभी तो हजारों में होती है।

उनकी बातें सुनकर मैं हैरान रह गया। मैंने कभी नहीं सुना कि हिन्दी में पेशेवर मंच से कविता सुनाने वालों को भी हजारों श्रोता कभी मिलते होंगे। हमारी उच्च भ्रू कविता और कवियों का तो फिर ज़िक्र ही क्या?

शाम गहराने लगी थी। ज्वालामुखी और निखिलेश्वर घर से हमारे साथ ही निकल पड़े वह हमें अपने संग कॉफी हाउस ले जाना चाहते थे जहाँ और भी अनेक नवोदित तेलगू कवियों से हमारा परिचय सम्भव हो सकता था।

कौन है इस सूत्र का धारक...???
लेखक या निर्देशक...???

रवि चतुर्वेदी

लेखक की कल्पना का विस्तार और आधार क्या है और निर्देशक कब और क्यों अपनी सीमाओं का उल्लंघन करता है- यह आधुनिक भारतीय रंगमंच का शाश्वत विवाद बन चुका है। इसी विवाद का एक अन्य पक्ष निर्देशक की क्षमताओं, अनुभव एवं ज्ञान के परीक्षण की ओर उंगली उठाता है। विशेष रूप से उस समय जब एक अभिनेता अपनी विवशताओं अथवा महत्वाकांक्षाओं के वशीभूत हो कर मात्र दो-चार नाटकों में अभिनय करने के पश्चात् निर्देशन के क्षेत्र में ताल ठोकू आत्म विश्वास के साथ उतर जाता है और अनेक मान्यताओं, धारणाओं और नैतिक धरातल को ध्वस्त कर देता है। मैं अपने इस कथन के माध्यम से कोई नई सूचना नहीं दे रहा हूँ और न ही विषय को हास्यास्पद बनाने की चेष्टा कर रहा हूँ अपितु विवाद के उस पक्ष की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ जिससे केवल हिन्दी या भारतीय रंगमंच ही पीड़ित नहीं है अपितु समस्त विश्व रंगमंच इस परिस्थिति का सामना करने पर बाध्य है। परन्तु एक बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि ये परिस्थिति केवल शौकिया रंगमंच में ही है जबकि व्यावसायिक रंगमंच में तो यदाकदा ही इस समस्या के दर्शन होते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में उपलब्ध परिदृश्य के आधार पर यह आकलन करना आवश्यक है कि हम भारतवर्ष के रंगमंच को शौकिया रंगमंच मानें अथवा व्यावसायिक मान कर लेखक और निर्देशक के अन्तर्सम्बंधों की विवेचना करें क्योंकि दोनों पक्षों की स्थितियां सर्वथा भिन्न हैं। निःसंदेह शौकिया रंगमंच की कार्यपद्धति एवं दृष्टि व्यावसायिक हो सकती है पर वह उसकी वरीयता नहीं हो सकती। रंगमंच के प्रति उसकी प्रतिबद्धता भी हो सकती है परन्तु रंगमंच उसकी बाध्यता नहीं हो सकता- कम से कम उस तरह तो नहीं जिस तरह जीवन यापन के लिये धनार्जन करने के उसके प्रमुख स्रोत। कष्ट होने पर वह एक बार रंगमंच का अभ्यास तो छोड़ या टाल सकता है परन्तु अपनी नौकरी अथवा जीवन यापन के व्यवसाय को नहीं छोड़ सकता इसलिये वह रंगमंच में अपने दमित आत्म सम्मान एवं इच्छाओं की पूर्ति का चित्र देखने लगता है और एक स्तर पर रंगमंच उसकी कुंठाओं के शमन का साधन बन जाता है। परिणामस्वरूप रंगमंच में उसका व्यवहार स्वच्छंद और कभी कभी तो उच्छृंखलता की सीमा को लांघता हुआ दिखलाई पड़ता है। बस इसी स्थान से रंगमंच विवाद स्थल में

परिवर्तित हो जाता है। यही कारण है कि भारतीय रंगमंच में लेखक एवं निर्देशक का विवाद अधिकांशतः शौकिया रंगमंच के क्षेत्र में ही दिखलाई पड़ता है क्योंकि दोनों में परस्पर व्यावसायिक अन्तर्सम्बंध विकसित होने का अवसर ही उपस्थित नहीं होता। शौकिया रंगमंच सदैव इस तथ्य को विस्मृत कर देता है कि भले ही कार्य करने की कई पद्धतियां हो सकती हैं परन्तु नाट्य प्रस्तुतिकरण एक सामूहिक क्रिया है जिसकी सफलता में लेखक सहित समूचे समूह का योगदान होता है। 'यह टेनिस का खेल नहीं है अपितु क्रिकेट का खेल है जिसमें प्रत्येक खिलाड़ी की महत्वपूर्ण भूमिका होती है और उसकी सफलता समूचे दल की सफलता पर ही निर्भर करती है।'[१]

परन्तु व्यावसायिक रंगमंच में जब इन अन्तर्सम्बंधों की चर्चा होती है तो दृष्टि भिन्न हो जाती है। परन्तु मेरे इस पत्र का आग्रह उस परिदृश्य की ओर संकेत करता है जो हिन्दी और भारतीय रंगमंच में पिछले पांच दशक से दिखलाई पड़ रहा है। मैंने अपने आकलन को चार दशक की सीमा में इसलिये सीमित किया है क्योंकि लेखकीय अस्मिता का प्रश्न १९५९ में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की स्थापना के पश्चात् अधिक गहराया है। स्वतन्त्रता से पूर्व के रंगमंच में, चाहे वह पारसी रंगमंच हो, लेखक बनाम निर्देशक का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं हुआ था। इसका मूल कारण भी यही था कि रंगमंच अपने उद्देश्यों के प्रति प्रतिबद्ध था। पारसी रंगमंच में यह प्रतिबद्धता व्यावसायिक उद्देश्यों के प्रति थी तो भारतेंदु कालीन रंगमंच की प्रतिबद्धता समाज सुधार अथवा राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ थी। परिणाम स्वरूप दोनों ही प्रकार के रंगमंच अपने अपने तरीके से कठोर अनुशासन से बंधे हुए थे। इस अनुशासन का पालन करवाने वाला व्यक्ति ही निर्देशक कहलाता था। लेखक इस अनुशासन से ऊपर नहीं था। यह तत्कालीन रंगमंच की एक वयस्क समझ थी अतः किसी प्रकार के विवाद की स्थिति उत्पन्न ही नहीं होती थी।

यह सत्य है कि भारतेन्दु कालीन रंगमंच मूल रूप से अर्थोपार्जन करने वाला व्यावसायिक रंगमंच नहीं था अपितु एक उद्देश्य के प्रति समर्पित रंगमंच था परन्तु उद्देश्य के प्रति उसकी समझ और उसकी कार्य पद्धति पूर्णतः व्यावसायिक थी। इसलिये इस प्रकार के अधिकांश रंगमंच में लेखक एवं निर्देशक अलग अलग नहीं है। या तो लेखक ही अपने नाटक का निर्देशन करता था या फिर निर्देशक स्वयं अपने नाटक लिख लेता था। कई बार निर्देशन का उत्तरदायित्व समूह का कोई वरिष्ठ एवं अनुभवी अभिनेता भी वहन कर लेता था।

परन्तु पारसी रंगमंच में स्थितियां सर्वथा भिन्न थीं जहां निर्देशक की सत्ता सर्वोपरि थी जो कंपनी के हितों के प्रति प्रतिबद्ध था। पारसी रंगमंच न केवल व्यावहारिक रंगमंच था बल्कि इससे भी अधिक यह व्यावसायिक रंगमंच था, अतः नाट्य लेखन इसी व्यावसायिक रंगमंच की मांग और उसकी शर्तों के अन्तर्गत होती थीं। यह एक दूसरी दृष्टि से ही सही, परन्तु पूर्णतः परिपक्व समझ थी अतः लेखक एवं निर्देशक के मध्य विवाद का आधार ही नहीं था। डा.लक्ष्मी नारायण लाल के अनुसार 'यह एक ऐसी मर्यादा थी जिसके बीच नाटककार कम्पनी के मालिक की सीमा के भीतर अपनी रचना करता था। कभी कभी कम्पनी का मालिक ही रंगमंच का निर्देशक और प्रस्तुतकर्ता होता था। यही नहीं, किसी किसी कम्पनी में निर्देशक ही परिस्थितियों की मांग के अनुसार नाटककारों से विशेष नाटकों की रचनायें करवाता था। उसकी समूची कथावस्तु और लेखन प्रकृति को अनुशासित करता था। दृश्यों में परिवर्तन करता था, अपनी मर्ज़ी से कुछ दृश्यों को रिहर्सल के दौरान फिर से लिखवाता था। विशेष प्रभावों और तत्वों को नाटक में ऊपर से डलवाता था।'[२] निर्देशक की इस एकाधिकारवादी स्थिति के रहते लेखक के समक्ष किसी भी प्रकार के विवाद की गुंजाइश ही नहीं थी। नाटक के चुनाव से लेकर आवश्यकता होने पर पुनर्लेखन करवाने का अधिकार किसी भी लेखक के आत्मसम्मान को आहत करने के लिये पर्याप्त था परन्तु आश्चर्य है कि इसी काल ने भारतीय रंगमंच को सर्वाधिक

सफल एवं लोकप्रिय नाट्य लेखक प्रदान किये। आगा हश्र कश्मीरी, नारायण प्रसाद बेताब या राधे श्याम कथावाचक को किसी भी आधुनिक नाटककार से अधिक नहीं तो कम भी नहीं जाना जाता। न ही इन नाटककारों की कृतियों को लोकप्रिय नाट्य साहित्य की दृष्टि से कमजोर कहा जा सकता है। लेखक और निर्देशक के अन्तर्सम्बंधों का भवन इतनी शक्तिशाली नींव पर निर्मित था कि उसमें किसी प्रकार की दरार संभव नहीं हो सकी। प्रस्तुति के संदर्भ में निर्देशक के अधिकार को चुनौती देने का तो प्रश्न ही नहीं था, अपितु उसकी प्रशंसा के भाव अवश्य दृश्यमान होते हैं। न्यू अल्फ्रेड कम्पनी के निर्देशक सोराबजी के लिये राधेश्याम कथावाचक ने अपने प्रसिद्ध नाटक वीर अभिमन्यु और प्रह्लाद का लेखन किया था। निर्देशक सोराबजी के साथ अपने संबंधों को उन्होंने अत्यन्त रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है:

'... सोराबजी बड़ी रोबीली शक्ल के डाइरेक्टर थे। थोड़ी सी बातचीत के बाद उन्होंने मुझसे 'वीर अभिमन्यु' के सीन सुने। मैं कथावाचक होने के कारण न उनके रौब में आया न दब कर सीन पढ़े?सोराबजी ने 'वीर अभिमन्यु' अपनी कम्पनी के लिए पसन्द किया।... उसके बाद दो-तीन मर्तबा सोराबजी ने (गुजराती अक्षरों में भोगी लाल से लिखवा कर) उन्हें पढ़ा। एक एक वाक्य को समझा और अपनी राय क़ायम की कि पहला ड्राप इसी सीन पर डालेंगे, जहां उत्तरा और सुभद्रा युद्ध के लिये अभिमन्यु को विदा करती हैं। सोहराब जी ने स्वयं कहा कि मुझे उसी सीन पर ड्राप डालना पसन्द है, जहां क़लम का ज़ोर ज़्यादा हो।'[३]

'वीर अभिमन्यु' के एक शेर पर सोराबजी ने शंका खड़ी कर दी:

जो ज्यादा मीठा होता है, वह अपना नाश कराता है
मीठी बोली के कारण ही, तोता पिंजरे में आता है।।

उन्होंने कहा, 'इसकी पहली लाइन अर्थ की दृष्टि से बिल्कुल सही नहीं, दूसरी लिख दीजिये।' मैंने एक-दो घंटे में पंद्रह-सोलह लाइनें लिख-लिखकर उन्हें दिखाईं। सब फ़ेल हो गईं। मुंशी बेकल और अहसन से भी उन्होंने लिखवाईं, आगा हश्र से भी लिखवाईं। अन्त में सत्ताइसवीं बार मेरी लाइनें रखी गईं; अर्थात् :

विपरीत समय का मीठापन विष का-सा फल दिखलाता है।
मीठे वचनों के कारण ही, तोता पिंजरे में आता है।।[४]

'प्रह्लाद' में मैंने सोराबजी के डाइरेक्शन का सौन्दर्य प्रत्येक पात्र में पाया। ख़ास तौर पर प्रह्लाद (पुरुषोत्तम मारवाड़ी) और प्रमोद (फूलचंद मारवाड़ी) तथा हिरण्यकश्यप (शाकिर भाई) के उच्चारणों को तो ऐसा सुना मानो सोराबजी ही बोल रहे हों।''[५]

ये सभी उद्धरण उक्त नाटकों की एक-एक रंग स्थिति और चरित्र चित्रण पर निर्देशक सोराबजी के प्रभाव को स्पष्ट करते हैं। डा. लाल का यह कहना कि 'व्यापक रूप से पारसी थियेटर में निर्देशन के मूल्य और उसके कार्यक्षेत्र में वह गंभीर कलात्मकता नहीं थी, जिससे कोई प्रदर्शन सौन्दर्य-बोध को प्राप्त करता है, या उससे कोई कलात्मक अनुभूति प्राप्त होती है।' डा. लाल के अनुसार, 'अगर ऐसे मूल्य उस रंगमंच में होते तो नाट्य-लेखन की प्रकृति में ही अन्तर आता। नाटक बाहर ही बाहर, कथानकों, घटनाओं और कार्यों में ही नहीं फैले होते, बल्कि उनमें मानवीय गहराई आती।'[६] डा. लाल की इस टिप्पणी पर चर्चा भी की जा सकती है और असहमत भी हुआ जा सकता है जो संभवतः उन्होंने किसी आधुनिक निर्देशक के साथ तुलना करते हुए की होगी। अन्यथा पारसी नाटकों की गहराई किसी भी गहन अर्थपूर्ण नाटकों की तुलना में कम नहीं है चाहे वे प्राचीन नाटक हों अथवा मध्य कालीन या आधुनिक नाटक हों। यह अलग तथ्य है कि निर्देशक का एक मुख्य कार्य नाट्यालेख की व्याख्या करना भी होता है जो प्रत्येक निर्देशक अपने काल और परिस्थितियों के

संदर्भ में करता है। मैंने स्वयं स्व.बी.एम.शाह के निर्देशन में 'वीर अभिमन्यु' की प्रस्तुति १९८१ में देखी है जिसमें उन्होंने अभिमन्यु को आधुनिक युवा वर्ग के प्रतीक स्वरूप व्याख्यायित किया, जो अति उत्साही है और अपने अधूरे एवं अनुभव विहीन ज्ञान के बल पर ही जीवन संघर्ष में कूद पड़ने को लालायित है परन्तु कठिनाइयों का हल नहीं ढूंढ पाता और आत्मघाती संघर्ष कर बैठता है। इस व्याख्या को देख कर एक क्षण को भी यह विश्वास नहीं होता कि राधेश्याम कथावाचक का काल नक्सलवाड़ी आन्दोलन या फिर संपूर्ण क्रांति के आन्दोलन से पहले का था। यद्यपि नाटक के दृश्य बिम्ब और गति वही थे जो राधेश्याम कथावाचक ने सोराबजी के लिये लिखे थे, न कि बी.एम.शाह के लिये जो अपने निर्देशकीय गुणों में सोराबजी से कमतर नहीं थे।[७]

यह सत्य है कि आधुनिक संदर्भ में निर्देशक एवं नाट्य लेखक के संबंध निश्चित रूप से परिवर्तित हुए हैं जिनमें कभी कभी कटुता भी प्रतिध्वनित हो जाती है। परन्तु संबंधों के वर्तमान परिदृश्य की विवेचना करने से पूर्व मैं इन सम्बंधों के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का अवलोकन करना चाहूँगा क्योकि निर्देशक एवं उसके कार्यों को वैज्ञानिक एवं तार्किक दृष्टि से परिभाषित करना आवश्यक है।

विश्व रंगमंच के इतिहास में ऐसा माना जाता है कि निर्देशक नामक संस्था का औपचारिक उदय सर्वप्रथम जर्मनी में सैक्स-माइनिन्गन के ड्यूक के साथ हुआ था जिनके निर्देशन में बर्लिन में १ मई १८७४ में नाटक का मंचन किया गया था। ड्यूक अत्यन्त कठोर अनुशासन प्रिय शौकिया रंगकर्मी थे। उनके निर्देशन में न केवल सुसंगठित एवं दीर्घावधि के पूर्वाभ्यास होते थे अपितु उनकी कम्पनी में न तो कोई अभिनेता स्टार होता था और न ही कोई चरित्र छोटा होता था। भीड़ के दृश्य, जिन्हें अब तक महत्वहीन मान कर स्वविवेक पर छोड़ दिया जाता था, पर पूरा ध्यान दिया जाने लगा एवं सम्पूर्ण नाट्य क्रिया में महत्वपूर्ण रूप से प्रस्तुत किये जाने लगे। मंच शिल्प से सम्बंधित सभी पक्ष नाट्य क्रिया के एकीकृत अंग के रूप में विन्यासित होते थे जो चरित्रों एवं परिस्थितियों की अभिव्यक्ति को सशक्त बनाने के लिये प्रयुक्त किये जाने लगे। ड्यूक के नाटकों की प्रस्तुतियों ने यूरोप के रंगमंच पर गहरा प्रभाव डाला और यह महसूस किया जाने लगा कि निर्देशक के माध्यम द्वारा नाट्य प्रस्तुति पर ध्यान केन्द्रित किया जाये तो प्रस्तुतिकरण को किसी भी ऊंचाई तक पहुँचाया जा सकता है और अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है।[८]

निर्देशक के रूप में ड्यूक के उद्भव से पूर्व विश्व रंगमंच के इतिहास में निर्देशक का कोई संदर्भ प्राप्त नहीं होता। प्राचीन यूनानी नाटकों से लेकर मौलियर तक लेखक ही यह दायित्व निभाता था। इस दायित्व के साथ वह अपने ही नाटकों में अभिनय भी करता था। शेक्सपीयर के काल में निर्देशन का दायित्व प्रमुख अभिनेताओं के हाथ में आ गया। यूनानी और रोमन रंगमंच में अभिनेताओं का बहुत दबदबा था। ३५० ई.पू. तक आते आते ऐथेन्स की नगरपालिका द्वारा आयोजित डायनोसिया महोत्सव में प्रस्तुत किये जाने वाले नाटकों में तो ये नियम ही बन गया था कि प्रतियोगिता में केवल उन्हीं नाटकों को प्रवेश दिया जायेगा जिनमें लेखक के अतिरिक्त कम से कम एक प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय अभिनेता को भी सम्मिलित किया जायेगा। परिणाम स्वरूप 'स्टार' अभिनेताओं का प्रादुर्भाव भी हो गया। पोलस, थियोडोरस, थैटालस, ऐथौनोडोरस, एरिस्टोडैमस आदि इसी प्रकार के 'स्टार' अभिनेता थे जिनकी नाटक में उपस्थिति नाटक के सफल होने की गारंटी थी। इन अभिनेताओं ने अपनी लोकप्रियता की स्थिति को समझते हुए नाट्य लेखन में भी हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया और आलेख में अपने अनुकूल परिवर्तन करवाने के लिये दबाव भी डालने की प्रक्रिया भी सामान्य हो गई।[९] यह क्रम न्यूनाधिक रूप से रोमन रंगमंच में भी जारी रहा। परिणाम स्वरूप २०७ ई.पू. में नाट्य लेखकों की संस्था 'कोलेजियम पोइटारम' में प्रसिद्ध अभिनेताओं को भी सदस्यता प्रदान कर

दी गई।[९०] परन्तु फिर भी वे प्रसिद्ध रोमन नाट्य लेखक प्लॉटस (२७४-१८४ ई.पू.) की लोकप्रियता के समीप भी नहीं आ सके। कहा जाता है कि प्लॉटस के नाम से १३० नाटक लिखे गये जिन्हें तत्कालीन रोमन नाट्य विद्वान वैरो (११६-२७ ई.पू.) ने तीन श्रेणियों में वर्गीकृत किया, यथा- प्रथम श्रेणी में वे नाटक जो निश्चित रूप से प्लॉटस द्वारा लिखे गये एवं जिनकी संख्या २१ थी; द्वितीय श्रेणी में ऐसे नाटक थे जिनके बारे में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वे प्लॉटस द्वारा ही लिखे गये हैं अथवा नहीं, तथा तृतीय श्रेणी में वे नाटक थे जो निश्चित रूप से प्लॉटस द्वारा नहीं लिखे गये।[९१] इन ऐतिहासिक तथ्यों को प्रस्तुत कर मैं केवल इतना ही रेखांकित करना चाहता हूं कि लेखक जब निर्देशक का दायित्व भी वहन कर रहा था तब भी उसे अभिनेता के हस्तक्षेप को सहन करना पड़ रहा था और उसे प्रस्तुति के हित में सामंजस्य बिठाना पड़ रहा था।

परन्तु आश्चर्य तब होता है जब नाट्यशास्त्र जैसे बृहद् ग्रन्थ में निर्देशक शब्द का उल्लेख भी नहीं मिलता। जबकि सूत्रधार के कर्तव्य एवं गुणों की विशद् व्याख्या की गई। रोचक तथ्य यह है कि सूत्रधार के जितने भी गुणों अथवा कर्तव्यों का विवरण मिलता है वह आधुनिक दृष्टि से निर्देशक पर यथारूप प्रयुक्त होते हैं। भरत के अनुसार सूत्रधार को नाट्य से सम्बद्ध न केवल प्रत्येक पक्ष का पर्याप्त ज्ञान होना चाहिये अपितु उसे 'नानाकर्मसु शिक्षितः'; 'नानापाषण्डकार्यज्ञ'; 'नीति शास्त्रार्थतत्ववित्'; 'वेशोपचार निपुण'; 'कामशास्त्र विचक्षण'; 'नानागति प्रचारज्ञ'; 'रसभाव विशारद'; 'नाट्य प्रयोग कुशल'; 'नानाशिल्प समन्वित'; 'ग्रहनक्षत्रतत्वज्ञो'; 'देहव्यापारपण्डित'; पृथ्वी, दीप, वर्ष, जन अर्थात् निवासीगण और उनके उचित आचार व्यवहार एवं वेषभूषा के प्रमाणिक ज्ञान का ज्ञाता; अनेक राजाओं के वंशों के इतिहास का विज्ञ भी होना चाहिये। इसके अतिरिक्त उसे शास्त्रों वर्णित अनेक आचार और कार्यों का व्यवस्थित श्रवण करना, उन तत्त्वों को ठीक से हृदयंगम करना, उन्हें व्यवहार में लाने की चेष्टा करना और उन्हीं तत्त्वों की दूसरों को शिक्षा देने में सामर्थ्य वाला होना चाहिये। भरत ने सूत्रधार के कार्य-व्यवहार और व्यक्तित्व का भी विवरण दिया है जिसके अनुसार उसे स्मृति और बुद्धि से पूर्ण, धीर स्वभाव, उदार प्रकृति, स्थिरवाक् अर्थात अपने वचन पर स्थिर रहने वाला, कविता में रुचि रखने वाला, स्वस्थ, मृदु सम्भाषण और व्यवहार करने वाला, सहनशील, नियन्त्रित, क्रोधावेश से दूर, सत्य-वक्ता, चतुर, ईमानदार तथा किसी वस्तु को पाने का लोभ न रखने वाला होना चाहिये।[९२] ऐसे व्यक्तित्व के स्वामी को ही भरत ने सूत्रधार के योग्य माना है। भरत ने एक स्थान पर 'बुद्धेराचार्य' की संज्ञा का उपयोग करते हुये कहा है कि ''अभिनेताओं का चुनाव उनके गुणों के परीक्षण के बाद करना चाहिये। बुद्धिमान आचार्य को ऐसा करने पर फिर किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होगी।''[९३] संभवतः यह संज्ञा सूत्रधार के लिये ही प्रयुक्त हुई है।

मेरी उत्सुकता सूत्रधार के गुणों के वर्णन में उतनी नहीं है जितनी इस बात में कि भरत ने 'निर्देशक' संज्ञा का उपयोग क्यों नहीं किया। यह तो किसी भी स्थिति में नहीं माना जा सकता कि भरत को इस शब्द का ज्ञान नहीं था फिर ऐसे क्या कारण रहे जिन्होंने इस शब्द के प्रयोग को नाट्यशास्त्र से बाहर रखा और प्रस्तुति निर्माण जिसे हम प्रोडक्शन कहते हैं, के स्थान पर प्रयोग शब्द का उपयोग किया। नाट्य लेखक, जिसे भरत ने कवि कहा है, प्रत्येक स्थान पर उपस्थित है परन्तु निर्देशक कहीं भी नही है। यहां यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि भरत स्वयं कवि या नाट्य लेखक नहीं थे, यद्यपि उन्होंने नाट्य प्रयोग के रूप में 'महेन्द्र विजय' एवं 'समुद्र मंथन' का मंचन अवश्य किया। परन्तु अपने इसी ग्रन्थ में उन्होंने काव्य रचना के गुण दोष, काव्य की प्रकृति, छंद और अलंकारों पर इतना लिखा है कि कई बार ऐसा प्रतीत होता है कि पाणिनी के 'व्याकरण' को मूर्त रूप प्रदान करने की विधि का निरूपण भरत ने ही किया है। क्या यह किसी अहंपोषित नाट्य लेखक को सबक सिखाने का प्रच्छन्न प्रयास है? सौ में से निन्यानवे तर्क यही कहते हैं कि ऐसा नहीं है, परन्तु

यदि एक भी आधार ऐसा सिद्ध करता है तो यह अत्यन्त तार्किक, सुनियोजित एवं सुविचारित प्रयास है। जहां तक निर्देशक के स्थान पर सूत्रधार शब्द के उपयोग का प्रश्न है, मुझे लगता है कि नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में ही भरत ने 'अभिनय' शब्द की व्याख्या करते हुए इसके कारण की ओर संकेत किया है। 'नृ' धातु- अर्थात् ले जाना- के आधार से उत्पन्न यह शब्द 'आगे की ओर ले जाने की क्रिया' के शाब्दिक अर्थ से अभिप्रेरित है। इस क्रिया में प्रयुक्त 'अभि' उपसर्ग भी उतना ही महत्वपूर्ण है जिसका शाब्दिक अर्थ 'आगे की ओर' अर्थात 'प्रगति की दिशा में' ले जाने से अभिप्रेरित है।[१४] इस अर्थ संयोजन से यह स्पष्ट है कि अभिनय की क्रिया कवि अर्थात नाट्य लेखक की रचना को प्रगति की दिशा में विकसित करने का प्रयोग है। यह प्रयोग एक 'वाहन' है जिसमें आंगिक, वाचिक, आहार्य एवं सात्विक नाम के चार पहिये हैं। परन्तु हम सभी जानते हैं कि कोई भी वाहन स्वतः तो नहीं चलता। उसे गति देने के लिये कोई तो ऊर्जा चाहिये। यह ऊर्जा काव्य में ही निहित होती है। इस ऊर्जा से वाहन गतिशील तो हो जायेगा पर यह आवश्यक नहीं कि वह अभीष्ट दिशा में ही जायेगा, वह कहीं भी जा सकता है। दिशाहीनता की इस अवस्था में परिणाम की कल्पना हम सभी कर सकते हैं। बल्कि कल्पना क्यों, हम ऐसे परिणामों को अपने आसपास देखते ही रहते हैं। यह सर्वविदित है कि वाहन को इच्छित दिशा में ले जाने के लिए एक स्टीयरिंग या सूत्र की आवश्यकता होती है जिसे धारण या नियन्त्रित करने वाला ड्राइवर या सूत्रधार के अतिरिक्त और कौन हो सकता है। काव्य अपनी रचना प्रक्रिया में ऊर्जा प्रस्फुटित करता है जो अनेक बार अपने निश्चित पथ से विचलित होकर अन्यत्र जाने के लिये उद्यत हो जाती है। इस ऊर्जा पुंज के अपेक्षित प्रभाव को घनीभूत करने के लिये नियन्त्रित करना आवश्यक होता है। नाट्य रचना में तो लेखक की ऊर्जा दो बार प्रस्फुटित होती है- पहली बार तब जब लेखक उसकी रचना करता है, और दूसरी बार तब जब सूत्रधार या निर्देशक उसकी पुनर्रचना दर्शकों के लिये करता है। ऐसी दशा में अनियन्त्रित ऊर्जा पथ विचलित हो कर या तो प्रभावहीन हो सकती है या अनर्थ कर सकती है। निर्देशक इस ऊर्जा को अपनी क्षमता, गुणों, अनुभवों, ज्ञान एवं अपने तरीके से नियन्त्रित कर उसे निश्चित दिशा प्रदान करता है। निस्संदेह लेखक एवं निर्देशक के अन्तर्सम्बंध का एक सही सर्वश्रेष्ठ स्वरूप होता है। समस्या तब उत्पन्न होती है जब कोई भी पक्ष एक दूसरे के क्षेत्र में अनपेक्षित हस्तक्षेप करता है। और ऐसा तब होता है जब दिशा या तो पूर्व निर्धारित न हो या फिर पारस्परिक विश्वास में संदेह का तत्व प्रविष्ट हो जाये।

आधुनिक भारतीय रंगमंच में इन अन्तर्सम्बंधों के विखण्डन का एक और कारण प्रमुखता से उभर कर आया है और वह है स्वयं को सर्वश्रेष्ठ समझने का मिथ्या आभास। इस आभास ने रंगमंच में प्रतिबद्धता के तत्त्व को सर्वाधिक हानि पहुंचाई है, भले ही यह पारसी रंगमंच की भांति व्यावसायिक हितों के प्रति प्रतिबद्धता हो या फिर कलात्मक सौन्दर्य के सृजन के प्रति प्रतिबद्धता हो। सामाजिक प्रतिबद्धता तो रंगमंच में अब विलुप्त तत्त्व की भांति है जो यदा कदा चमक जाती है और फिर विलुप्त हो जाती है। अनेक विद्वान लेखक इस मिथ्या आभास को उत्पन्न करने के लिये राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की शिक्षा एवं नाट्य सृजन प्रणाली को भी मुख्य कारण मानते हैं। नाटककार मुद्राराक्षस ने अपने नाटक 'आला अफसर' की भूमिका में अपने इसी गुस्से को एक लम्बे निबन्ध के माध्यम से अत्यन्त कठोर शब्दों में व्यक्त किया है।

''नये निर्देशकों की रुझान दुर्भाग्यवश इसी राजनैतिक फार्मूलेबाज़ी में रह गई है। राजनीति की गहरी, अन्तरंग और मानवीय संवेदनाओं की धुरी पर घूमने वाली नाटकीय समझ उनमें नहीं है। वे बर्तोल्त ब्रैख्त का नाम लेकर एक छिछले 'कमिटमैंट' का जिक्र बेहद आसानी से करने लग जाते हैं और किसी भी खोखली नारेबाजी को मंचित करके ब्रैख्त-धर्म का आश्वासन पा लेते हैं। 'प्रतिबद्धता'

का जैसा दुरुपयोग और उसकी दुर्दशा साहित्य की सतही समझ वाले लोगों ने की है वैसा ही बलात्कार इस शब्द के साथ नये निर्देशकों ने करना शुरू कर दिया है।

प्रतिबद्धता के बलात्कार की आदत दुर्भाग्य से एक ऐसी संस्था में पड़ती है जिसकी रचनात्मक सार्थकता के बारे में मैं हमेशा संदिग्ध रहा हूं। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय एक ऐसी फैशन परस्त संस्था है जो न तो नाटक की गहरी समझ देती है और न ही सामाजिक विवेक की। वह छन्द और अलंकार सिखा कर कवि पैदा करने की कोशिश करती है। उसका ख्याल है कि छात्र पढ़ कर रचनाधर्मी होता है।... जिस तरह साहित्य में एम.ए. पढ़कर कोई साहित्यकार नहीं होता, उसी तरह नाट्य विद्यालय का स्नातक होकर भी रंग रचनाकार नहीं हुआ जाता।

... राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय का स्नातक यह मुग़ालता लेकर बाहर आता है कि वह दूसरे किसी काम को कम जानता हो, लेखन को लेखक से ज्यादा जानता है।... यही मुग़ालता कला का दुश्मन बनाने के पूरे साधन जुटा देता है।[९५]

मुद्राराक्षस ने अपने इसी निबन्ध में और भी बहुत कुछ लिखा है। मैं उनकी पीड़ा से काफी हद तक सहमत भी हूं क्योंकि राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय को मैं बहुत अन्दर से जानता हूं। इस विद्यालय का स्नातक एक और विद्या लेकर बाहर आता है जिससे संभवतः मुद्रा राक्षस अनभिज्ञ हैं, परन्तु परपीड़ा में आनंद उठाने की विद्या उसे अपने अध्यापकों के व्यवहार से ही सीखने को मिलती है। रंगमंच में उसे यह आनन्द केवल लेखक को सीख देने से ही नहीं मिलता अपितु अपने साथियों को ही नीचा दिखाने से भी मिलता है। परन्तु मुद्राराक्षस जैसे संवेदनशील एवं अनुभवी रचनाकार अपनी रचनाओं की भूमिका में यह अनुरोध कर कि 'प्रस्तुतकर्ताओं से अनुरोध है कि वे इस नाटक के आलोक की स्थितियों, चरित्रों, संवादक्रम, संवाद और भाषा में किसी प्रकार का परिवर्तन न करें। परिवर्तन आवश्यक लगने की स्थिति में किसी अन्य नाटक का चुनाव किया जा सकता है', एक ऐसी असहिष्णुता व्यक्त कर देते हैं जो निर्देशक के साथ लेखक के सम्बंध बनने से पूर्व ही ध्वस्त कर देती है। यद्यपि उसी नाटक में वे दो दर्जन से अधिक मंच निर्देश कोष्ठकों में लिखते हैं जो निर्देशक और अभिनेता को निर्देशित करने के लिये हैं।[९६] यह लेखक की निर्देशक के ऊपर पलट कर वार करने की क्रिया तो हो सकती है परन्तु ऐसा करके वे अपने लेखन को कल्पनाशील निर्देशक की पहुंच से बाहर कर देते हैं क्योंकि इन शर्तों के साथ कोई भी रचनाधर्मी निर्देशक अपनी सृजनधर्मिता को सहज अभिव्यक्ति देने में स्वयं को असमर्थ ही पायेगा। दूसरी ओर भीष्म साहनी जैसे मृदुभाषी रचनाकार भी होते हैं जो अत्यन्त विनम्रता से नाटक के मंचन में आने वाली संभावित कठिनाइयों की ओर निर्देशक का ध्यान आकर्षित करते हैं।

' 'मुआवजे' के मंचन में निर्देशक को दो दिक्कतों का सामना करना पड़ सकता है- एक तो पात्रों की संख्या अधिक है। इसके लिये एक-एक रंगकर्मी को एक से अधिक भूमिका निभानी पड़ सकती है। दूसरी- जिस ओर ध्यान देना मैं आवश्यक समझता हूं- नाटक की गम्भीर विषयवस्तु और उसकी व्यंगात्मक अभिव्यक्ति के बीच संतुलन बनाये रखना जरूरी है। न तो हँसी मजाक को इतना अधिक तूल दिया जाये कि नाटक प्रहसन न रहकर, भड़ैती बन जाये, और न ही उसकी गम्भीर विषयवस्तु पर इतना अधिक बल दिया जाये कि वह साम्प्रदायिकता पर लिखे एक दस्तावेज का रूप ले ले।'[९७]

ऐसे अनेक विरोधाभासी उदाहरण उपलब्ध हैं जो लेखक एवं निर्देशक के अन्तर्सम्बंधों की विभिन्न रोचक परतें अनावृत करते हैं जिन्हें मैं इस आलेख की सीमाओं के कारण उद्धृत नहीं कर रहा हूं। परन्तु आधुनिक भारतीय रंगमंच में नाट्य लेखन में एक महत्वपूर्ण तत्त्व समाहित हो गया है जिसने निर्देशकीय संभावनाओं को सीमित करने का प्रयास किया है। यह तत्त्व आलेख में वर्णित

कोष्ठकों के मध्य लम्बे-लम्बे मंच निर्देशों के रूप में उपस्थित रहता है। यह निर्देश न केवल अभिनेताओं को अपितु तकनीकी पक्ष को भी निर्देशक के दृश्य बिम्बों से परे लेखक द्वारा प्रदत्त दिशा में अग्रसर होने को प्रेरित करते हैं। यह अवस्था निर्देशक के लिये अनुशासनहीनता की अवस्था होती है जिसे वह सहज रूप में स्वीकार नहीं कर पाता। स्वयं उसकी विचारधारा का भी इन लेखकीय निर्देशों से परिस्थितिकरण हो जाता है जो सहज स्वीकार्य नहीं हो सकता परन्तु कुछ निर्देशक इन निर्देशों के अभाव में असहज हो जाते हैं, यद्यपि ऐसे निर्देशकों में अधिकांशतः अनुभव एवं कल्पनाशीलता विहीन व्यक्ति ही होते हैं।

लेखक द्वारा कोष्ठकों में निर्देश लिखने की परम्परा पाश्चात्य रंगमंच की देन है जो यथार्थवादी रंगमंच से उपजी थी। इससे पूर्व चाहे प्राचीन यूनानी नाटकों पर दृष्टि डालें, या फिर संस्कृत नाटकों का अध्ययन करें, किसी भी आलेख में सामान्यतः 'प्रवेश' एवं 'निष्क्रमण' के अतिरिक्त किसी प्रकार के लेखकीय निर्देश नहीं लिखे गये हैं। शेक्सपीयर ने संभवतः प्रस्तुति निर्माण प्रक्रिया को देखते हुए अभिनय से सम्बंधित कुछ विचार व्यक्त करने की इच्छा को अत्यन्त बुद्धिमतापूर्ण एवं नाटकीयता के साथ अपने प्रसिद्ध नाटक 'हैमलेट' में व्यक्त कर दिया।[१८] परन्तु पाश्चात्य रंगमंचीय परम्परा में यथार्थवादी नाट्यालेख अधिकांशतः कार्यशालाओं में ही विकसित हुआ है, एवं उसका प्रकाशन मंचन के पश्चात् किया गया अतः नाटक के दृश्य बिम्ब निर्माण करने में निर्देशक का प्रतिभाग कोष्ठकों में स्थान पाने लगा। परिणाम स्वरूप लेखन नाट्य निर्मिति की प्रारम्भिक अवस्था में लेखक एवं निर्देशक के मध्य सहयोग के ही उदाहरण अधिक देखने को मिलते हैं, जबकि टकराव उस स्थिति में उत्पन्न हुआ जब पूर्व निर्मित आलेख के प्रकाशन के पश्चात् किसी दूसरे निर्देशक ने उसे खेलने के लिये अपनी परिस्थिति एवं प्रतिबद्धताओं से प्रेरित हो कर मंचित करने का प्रयास किया। दुर्भाग्य से भारतीय, विशेषकर हिंदी रंगमंच में लेखक ने स्वतंत्र रूप से नाट्यालेख (Playscript) के स्थान पर नाट्य प्रस्तुति आलेख (Production script) को प्रकाशित करवाना प्रारम्भ कर दिया। परिणाम स्वरूप लेखक एवं निर्देशक के विवाद हिंदी रंगमंच में ही अधिक देखने को मिलते हैं। हिंदी का निर्देशक तो अब इतना निर्भीक हो गया है कि वह प्रतिष्ठित लेखक की रचना के मंचन से पूर्व रॉयल्टी निश्चित करना तो दूर अनुमति प्राप्त करने की औपचारिकता भी नहीं निभाना चाहता। इसी प्रकार की एक घटना से आहत हो कर मन्नू भंडारी ने अपने नाटक 'महाभोज' के दिल्ली स्थित श्रीराम प्रेक्षागृह में होने वाले मंचन को पुलिस हस्तक्षेप से रुकवाया। डॉ.धर्मवीर भारती ने तो अपनी सुप्रसिद्ध कृति 'अन्धा युग' की प्रकाशित पुस्तक में स्वत्वाधिकार चिन्ह भी मुद्रित नहीं करवाया।[१९]

लेख के अन्त में भरत मुनि के संकेतों को ही रेखांकित करते हुए कहना चाहता हूं कि कोई भी वाहन ऊर्जा के बिना गतिशील नहीं होता और सूत्र या स्टीयरिंग ग्रहण किये बिना इच्छित दिशा में निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता। लेखक और निर्देशक के अन्तर्सम्बंधों की संभवतः यही आदर्श स्थिति हो सकती है जो रंगमंच के इतिहास में बार-बार प्रमाणित होती रही है। एक और बात, 'जिसका काम उसी को साजे'। यदि निर्देशक लेखक भी बन जाये या इसके उलट लेखक निर्देशक का उत्तरदायित्व वहन करने लगे तो अन्ततः रंगमंच की ही गति अवरुद्ध होती है। वर्तमान समय में हिंदी रंगमंच में तो विशेष रूप से यह स्थिति व्याप्त होती जा रही है। तर्क या तो यह दिया जा रहा है कि अच्छे मंचनीय नाटकों की कमी है, या फिर निर्देशक प्रयोगशीलता से दूर, मीडिया की व्यापारिक चकाचौंध की ओर आकर्षित हो चुका है। सत्य चाहे जो भी हो परन्तु यह अविश्वास एवं असहिष्णुता के अतिरिक्त और क्या है?

संदर्भ सूची

१. लंदन के प्रमुख प्रयोगधर्मी नाट्य समूह 'आउट ऑफ जॉइन्ट' के कला निर्देशक मैक्स स्टैफर्ड क्लार्क द्वारा एक साक्षात्कार के अंश वेबसाइट http://www.outofjoint.co.uk -१४ जुलाई २००३ को आखिरी बार खोली गई।
२. लाल, लक्ष्मी नारायण; पारसी - हिंदी रंगमंच, पृ. ११०-११
३. कथावाचक, राधेश्याम; 'मेरा नाटक-काल' (पहला संस्करण) १९५७, पृ. ४०, ४१, ४३
४. वही, पृ. ४७
५. वही, पृ. ६४
६. लाल, लक्ष्मी नारायण; पारसी - हिंदी रंगमंच, पृ. ११५
७. ख्यातिनाम निर्देशक स्व. बी.एम.शाह राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली के निर्देशक थे। 'वीर अभिमन्यु' का निर्देशन उन्होंने द्वितीय वर्ष के छात्रों साथ १९८१ के प्रथम सेमेस्टर में किया था जिसका मंचन विद्यालय के चक्रीय सभागृह में अस्थायी रूप से बनाये गये मंच पर किया गया था। दर्शक दीर्घा मंच के दो ओर बनाई गई थी। लेखक ने स्व. शाह के निर्देशन में १९७८ के प्रथम सेमेस्टर में विद्यालय के तलधर में मंचित मैक्सिम गोर्की के नाटक 'लोअर डैप्थ' में अभिनय किया था।
८. व्हिटिंग, फ्रैन्क एम.; 'एन इन्ट्रोडक्शन टू द थियेटर', हार्पर एन्ड ब्रदर्स पब्लिशर, न्यू यॉर्क, १९५४, पृ. १४६
९. ब्रोकैट, ऑस्कर; 'हिस्ट्री ऑफ द थियेटर', ऐलन एन्ड बैकन कं., बोस्टन, १९८२, पृ. ४४
१०. वही, पृ. ७८
११. वही, पृ. ६१
१२. भरत; 'नाट्यशास्त्र', ३५ ।।६५-७३।।
१३. वही, ३५ ।।३।। तस्मादन्विष्य हि गुणान् कार्यः पात्रसमाश्रयः। न खेदजननं बुद्धेराचार्यस् भविष्यति।।
१४. वही, ८ ।।६-७।।
१५. राक्षस, मुद्रा; 'आला अफसर', अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, १९७९, पृ. २१-२२
१६. राक्षस, मुद्रा; 'सन्तोला', वाणी प्रकाशन, दिल्ली, १९८०, पृ. ३०
१७. साहनी, भीष्म; 'मुआवजे', राधाकृष्ण, दिल्ली, १९९७, 'दो शब्द'।
१८. शेक्सपीयर; 'हैमलेट', अंक-३, दृश्य-२
१९. भारती, धर्मवीर; 'अन्धा युग', किताब महल, इलाहाबाद, २०००। यद्यपि अन्धा युग का यह नवीनतम संस्करण डॉ.भारती के स्वर्गवास के पश्चात् मुद्रित हुआ है, परन्तु फिर भी इस पर स्वतधिकार चिन्ह मुद्रित नहीं है। सामान्यतया लेखक की मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी लेखक की सद्इच्छा के बावजूद लाभ का अवसर हाथ से नहीं जाने देते। प्रकाशक तो कदापि नहीं। यह संस्करण रॉयल्टी मुक्त है।

सुन्दरता काल का अतिक्रमण करती है

गोविन्द मिश्र

मध्यप्रदेश वन विभाग के मेरे दोस्त हमेशा टोकते थे- शिवपुरी के वन नहीं देखे! पास की जगहें अक्सर छूट जाती हैं। शिवपुरी झांसी के पास है, ग्वालियर के भी। झांसी आना-जाना कब से होता रहा, ग्वालियर अब होता रहता है, क्योंकि बेटी मनु वहाँ है। हर बार दोस्त के उलाहने पर ग्लानि होती थी- इतने पास शिवपुरी और नहीं गया।

आखिर कार्यक्रम बना- शिवपुरी में माधव नेशनल पार्क, उसके आगे कूनो अभयारण्य जहाँ गुजरात के गिर वन के एशियाई सिंहों को बसाये जाने की योजना है। गुजरात के मुख्यमंत्री ने गिर के सिंहों को देने को मना कर दिया। एशियाई सिंह प्रजाति की बढ़ोतरी के बजाय उन्हें अपने गुजरात की शान ज्यादा प्यारी है। अब सुना है कि चिड़ियाघर से इस प्रजाति के सिंहों का युगल लाया जायेगा, उनके जो बच्चे होंगे, उन्हें धीरे-धीरे शिकार सिखाया जायेगा- लम्बी योजना बनानी पड़ी है, एक मंत्री की तंग-दिली के चलते। सोचा शिवपुरी के आगे वह प्रांगण भी देख आऊंगा जहाँ कभी एशियाई सिंहों के शावक उचकेंगे, शिकार की ट्रेनिंग लेंगे और फिर अपनी आबादी फैलायेंगे।

हम ग्वालियर से शिवपुरी पहुंचे....रात करीब दस बजे। साथ में किशोर मुराब उनकी पत्नी, मेरी पत्नी... चन्द्रा अकेले। दो घंटे का रास्ता पता ही न चला.....कार चलचल, कार के अन्दर हमारी बतचल। दोस्त के साथ, जहाँ आपको विश्वास है कि आप कुछ गलत भी बोलें उसे नज़रअन्दाज़ उसी इत्मीनान से कर दिया जायेगा जैसे वह बोला गया है। बाहर की फिज़ां और बातों का सुरूर ही यह करिश्मा पैदा कर सकते हैं कि अंधेरे में करीब दो घंटे का रास्ता पता ही न चले। जब मंजिलेमक्सूद पहुंचे तभी जागे, एक तरह से।

वन विभाग का गैस्ट हाउस माधव झील के एकदम किनारे पर है। १९१९ में ग्वालियर के राजाओं का यह सेलिंग क्लब था। पानी नीचे थपकियां मारता है... कुछ-कुछ कश्मीर के हाउस-बोट्स की याद दिलाता है। रात को सोये तो लगता रहा कि हमारा कमरा पानी पर तैर रहा है।

बड़े सुबह अकेले पैदल ही निकल लिया। झील में कहीं-कहीं एक पंक्ति में आगे जाते, भीतर पानी से उठते बुलबुले थे। जंगल के एक कर्मचारी ने बताया कि घड़ियाल है, नीचे से सरसराते जा

रहे हैं। गैस्ट हाउस की और उसके आसपास की पुरानी इमारतें..... पहले जैसे ही रखी गयी हैं। कोई सौ गज हटकर बारादरी है, हरी पहाड़ी पर टिकी हुई। यहां राजाओं के जमाने में संगीत की महफिलें जमती थीं। बारादरी चारों तरफ से खुली एक गोल-गोल भव्य इमारत है। ऊपर मंच, नीचे दर्शकों को बैठने के लिए जगह....सीढ़ी-दर-सीढ़ी छोटे मैदान से ऊपर मंच तक। विशिष्ट लोगों के लिए, उसके नीचे द्वितीय श्रेणी जैसी और सबसे नीचे काफी बड़ा मैदान- चाहे जितने लोग बैठ लें। बारादरी यहां की प्रकृति में पहले की तरह अब भी गुंथी हुई है, हालांकि थोड़ी उदास, तनहा.... क्योंकि अब यहां महफिलें नहीं सजतीं, संगीत की गूंज नहीं होती।

तैयार होकर हम नेशनल पार्क का चक्कर लगाने निकले। माधव लेक खासी बड़ी लेक है। बांध पुराने वक्त का है। बांध की दीवार पर बीच बीच में छोटी छतरियां-सी। बांध में एक जगह पुराने समय का शूटिंग बॉक्स है जिसमें बन्द होकर राजा लोग शिकार करते थे। कहीं-कंही बांध की दीवारों से पानी बह रहा था। बरबाद तो नहीं जाता क्योंकि माधव लेक से पानी नीचे साख्या सागर झील में इकट्ठा होता है..... वहाँ से आगे शिवपुरी नगर के पास वाली एक झील में। दरअसल पूरी शिवपुरी बस्ती के लिए पानी अन्ततः इन्हीं झीलों से जाता है। पुराने राजाओं का जल-प्रबन्धन अध्ययन की चीज है। चरखारी जैसे छोटी रियासत, जहां मेरा बचपन बीता, एकदम पथरीली जगह.. ... वहां भी पानी की कमी नहीं हो पाती थी क्योंकि चारों तरफ़ तालाबों का जाल बिछा दिया गया था। ऐसे तालाब करीब करीब हर पुरानी रियासत में मिलेंगे। हमारे नेताओं और उनके गुर्गों ने कई ऐसे तालाबों को सुखा-सुखाकर उसकी ज़मीन को 'कैश' करना शुरू किया.... एक यह बड़ी वजह है उन जगहों में पानी की काफी तकलीफ बढ़ती चले जाने की, क्योंकि भूमि का जलस्तर नीचे होता चला गया, कुएं सूख गये।

माधव नेशनल पार्क में जानवर कम है, शेर तो हैं ही नहीं। हमें सिर्फ नीलगाय, हिरन, लेक के किनारे पड़े, पानी में चलते मगर-घड़ियाल दिखाई दिये। हां चिड़ियां खूब हैं। मौसम में प्रवासी पक्षी भी यहां खूब आते हैं। पार्क में ही एक पहाड़ी के ऊपर जॉर्ज कासिल है। इंगलैंड में छोटे-छोटे किलों- जिन्हें हमारी लोक भाषा में गढ़ी कहेंगे- कासिल कहते हैं। वहाँ हर शहर में एक-न-एक कासिल है जो किसी-न-किसी छोटे-मोटे इतिहास से सम्बद्ध है और पर्यटक-स्थल है। शिवपुरी का जॉर्ज कासिल भारतीय राजाओं की चाटुकारी प्रवृत्ति का उम्दा नमूना है। इसे जिवाजी राव सिन्धिया ने इंगलैंड के बादशाह जार्ज पंचम के एक रात को रुकने और टाइगर का शिकार करने के लिए बनवाया था। कासिल माधव पार्क की सबसे ऊंची चोटी पर स्थिति है। उस ज़माने में इमारत बनाने का सामान यहां पहुंचाना कितना मुश्किल रहा होगा। तब यह इलाका जंगली जानवरों से भी भरपूर था .... तो आते-जाते कितने कारीगर भेंट चढ़ गये होंगे .... पर राजा को अपनी वफादारी जो दिखानी थी ... तो करीब-करीब तिमंजिला यह इमारत तैयार हुई- गोलमटोल शैली में बिल्कुल इंगलैंड की कासिलों की शकल में। हमने कासिल के ऊपर तक और अन्दर से भी देखा- बाथरूम तक में उस ज़माने के हिसाब से चुनिन्दा मटीरियल लगाया गया है, स्नान के लिए बकायदे बाथ-टब बनाये गये हैं। मज़ाक यह हुआ कि तैयारी तो पूरी की गई मगर इंगलैंड का बादशाह यहाँ आया ही नहीं, ग्वालियर के राजाओं की चापलूसी धरी की धरी रह गयी ।तब से अब तक यह इमारत वैसी ही पड़ी है। इसे पर्यटकों के लिए भी इस्तेमाल नहीं किया जा सकता .... क्योंकि इतनी दूर है। वैसे इस इमारत की उदासी और इसकी ऊपरी मंजिल से चारों तरफ़ का नजारा मिलता है .... इन दो चीज़ों को देखने के लिये यहां आया जा सकता है। एक-एक कमरे में ताक-झांक के बाद हम इमारत के सबसे ऊपरी हिस्से पर खड़े हुए- नीचे बिछी हरीतिमा, दूर की पहाड़ियों हदें निगाह तक फैली हुई हैं। हरी-भरी घाटी के अलावा माधव झील भी यहां से दिखाई देती है।

माधव झील का चक्कर लगाते हुए हमें कहीं-कहीं किनारे पर पड़े घड़ियाल दिखाई दिये... सुस्त, निष्क्रिय। ये ही पानी में कैसे सक्रिय हो जाते हैं, अब पड़े-पड़े अपने शरीर का तापमान बढ़ा रहे थे। वहीं से हम सिन्धिया की छतरियों वाली जगह पहुंचे। यहां सिन्धिया राजाओं की समाधियां हैं। पुराने राजाओं की छतरियां करीब-करीब पूरी इमारत जैसी है, नयों की छोटी। नयों में एक माधवराव सिंधिया की भी है। अच्छी बात यह है कि इस परिसर में घूमते हुए कहीं भी शमशान की वीरानी, उदासी नहीं दिखाई देती .... सब कुछ उजला-उजला है।

माधव पार्क का जंगल अब पहले जैसा नहीं बचा। हमारे पूर्वज उसे खा गये। कहते हैं लार्ड हार्डिंग ने यहां एक दिन में आठ शेर मार कर रिकार्ड बनाया था, लार्ड मिण्टो ने अपनी ग्वालियर ट्रिप के दौरान १६ शेर मारे थे। क्या बहादुरी दिखाई! आज यहां एक भी शेर नहीं है। भारतीय राजाओं का शिकार-शौक जाना सुना है ही। इन लोगों ने प्रकृति पर कैसे अत्याचार किये ... तो काल ने उसकी भी दुर्दशा की। दूसरे जानवर भी यहां कम हैं। वन विभाग के अधिकारी/कर्मचारी अब भी उत्साहित हैं कि इसे फिर पुराने जैसा बनाया जा सकता है-सब है यहां-भूमि का फैलाव, पानी ... छोटे-बड़े प्राकृतिक नाले। आज हम उस दौर में जी रहे हैं जहां जंगल को उजाड़ना इतना आसान है कि वह हमारे दैनन्दिन जीवन में शामिल हो गया है। हम जंगल बरबाद करते चलते हैं ... झीलों में कूड़ाकबाड़ फेकते हैं, देवी या गणेश-उत्सवों में प्रतिमाओं का विसर्जन करते हैं ... पेड़ों की अनापशनाप कटाई, खुद को आश्वासन देते हुए कि नये पेड़ लगा देंगे। जंगल बसाना उतना ही मुश्किल है, जितना बर्बाद करना आसान। उसके नतीजे वर्षों बाद मिलते हैं ... तब तक उसे भी नष्ट कर दिया जाता है। एक और मुश्किल जो हो गई है वह इन जगहों को पर्यटकों के लिए खोल देने की प्रवृत्ति। तर्क जो दिया जाता है, वह यह कि आखिर यह प्रकृति-सौन्दर्य या वनसम्पदा किसलिए है- अगर पब्लिक को इसे देखने ही न दिया जाय। जी नहीं, वन सम्पदा पृथ्वी पर मनुष्य जाति को बचाये रखने के लिए है, उसके नेत्रसुख के लिए नहीं। माधव लेक में ही बोटिंग की जा सकती है। अब जो बोट पर जायेंगे, वे पर्यटक ऊटपटांग चीज़ें लेक में फेकेंगे। कितना कन्ट्रोल करेंगे आप ... फिर मोटर-बोट का डीजल से चलना ... शोर आदि ... यह सब लेक के जीव-जन्तुओं पर असर नहीं डालेगा क्या?

दोपहर बाद कूनो के लिए निकल दिये। कूनो मध्यप्रदेश के श्योपुर जिले में है। शिवपुरी की तरह उत्तरी विंध्याचल का एक भाग- शिवपुरी से करीब ८० कि.मी.। जगह का नाम नदी से है। कूनो चम्बल की सहायक नदी है। गर्मी में पानी नहीं रहता ... तब भी नदी के छोटे-छोटे कुंडों, आसपास के पाकेटों, गड्ढों में जमा रहता है, तो जानवरों का काम चल जाता है। अभी नदी में हल्का बहाव था। अभयारण्य में प्रवेश करने के बाद गैस्ट हाउस तक एक भी जानवर नहीं दिखे थे। हम थक गये थे ... पर गैस्ट हाउस पहुंचते ही सारी थकान दूर हो गई जैसेही नीचे कूनो नदी को देखा-तीन-चार मोड़ लेती सामने की तरफ़ जाती हुई, पतली सफेद धारा चांदी की तरह चमकती हुई। उस पार घनी हरियाली से ढकी पहाड़ियां थीं... उसी ऊंचाई तक जिस पर कूनो के इस तरफ़ हम खड़े थे... हम सामने की उन पहाड़ियों के ऊंचे पठार को देख सकते थे जो घने पेड़ों से ढका था। आर पार फैला विस्तार, नीरवता, शान्ति। सौन्दर्य की पूरी झांकी में जो थोड़ी कमी थी तो जैसा उसे पूरा करने के लिए अंधेरा उतरते ही चांद की पतली फांक आकर कूनो नदी के ऊपर ठहर गयी। कितनी देर तक मैं कूनो को देखता रहा-इस छोर से ... दूर उस छोर तक जहां वह तीन-चार मोड़ लेने के बाद ओझल हो जाती है।

नदियों में कुछ तो होता है, बहती वे भले काफी नीचे जैसे यहां, या बांदा में केन की तरह से शहर से काफी दूर ... पर उस बस्ती पर, वहां रहने वाले लोगों के मानस पर वे ही वे छायी होती हैं।

वाराणसी में विश्वनाथ का मंदिर बाद में आता है, पहले लोगों की जुबान पर गंगा है। पहाड़ों पर भी- मैंने चम्बा में देखा लोगों की दिनचर्या में सुबह शाम रावी घुली हुई है, या मनाली में व्यास। यों ही नहीं था कि पुरानी सभ्यताएं नदियों के किनारे ही विकसित हुईं, सिन्ध नदी की धारा इधर से उधर हुई कि सिन्ध नदी की सभ्यता ही बैठ गयी। प्राकृतिक चीज़ों में आदमी का सबसे ज्यादा साथ देने वाले- भौतिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से- ये ही हैं- पेड़ और नदियां... और आज का आदमी दोनों के प्रति लापरवाह है, इसलिए आधुनिक सभ्यता भी नष्ट होने के रास्ते है।

हमारे देश के भूखंड के इस कोने, उस कोने में लुकी-छिपी बहती कूनो जैसी छोटी-छोटी नदियां ... इनके नाम भी सिर्फ उन्हीं को मालुम जो इनके आसपास रहते हैं, जिनके जीवन में ये समाई हुई हैं। मध्यप्रदेश में पिछले बारह साल से रहते हुए मैंने ही कूनो का नाम नहीं सुना था। ये जितनी कम प्रसिद्ध हैं, उतनी ही खूबसूरत हैं। बेतवा, केन तो फिर भी बड़ी नदियां हैं। बुंदेलखंड में जिसे पंचदान क्षेत्र कहते हैं वहां छोटे से इलाके में आसपास बहती पांच नदियां हैं, एक दूसरे में मिलतीं, फिर आखिरी नदी क्वारी सबको लेकर यमुना में मिलती। तीन मैंने देखी थीं ... इसी तरह मड़ई के भीतर से बहती नागद्वारी जहां हमने नहाया था। कूनो बहुत नीचे है, नहाना कहां हो पायेगा ... पर इसके पास आया, एक रात, एक दिन इसके सामीप्य में रहा ... यही क्या कम है।

दूसरे दिन अल्स्सुबह जीप पर जंगल को निकले। पास में वे जगहें थीं जहां कभी गांव थे... जिन्हें अभयारण्य बनाने के लिए सीमा के बाहर स्थानान्तरित कर दिया गया है। एकाध जगह वाच-टावर सी बनी ऊपर की झोपड़ी जिस पर बैठकर लोग खेती की चौकीदारी करते होंगे। घरों की दीवारें बिना छप्पर की... एकाध घर साबुत भी... धीरे-धीरे खंडहर की तरफ़ सरकते हुए। कितने गाय-बैल दिखाई दिये- बताया गया कि ये पुराने ग्रामवासियों के पशुधन हैं, वे उन्हें नयी जगह ले गये हैं तो भी ये पुरानी जगह लौट-लौट आते हैं... जबकि यहां जंगली जानवरों से खतरा हो सकता है। फिलहाल नहीं था, क्योंकि हमें नीलगाय, कुछ हिरन, एकाध सांभर ... इनके अलावा जंगली जानवर नहीं दिखे। वे जानवर जो सिंहों का भोजन बनेंगे ... वे भी कम हैं। लम्बा समय लगेगा इस भूखंड को एशियाई सिंहों की भूमि बनने में। गुजरात के मुख्यमंत्री की तंगदिली को फिर कोसा मन ने।

गैस्ट हाउस के बगल में ही कूनो के पुराने राजा की गढ़ी थी ... छोटा किला-सा। शुरू में बड़े दरवाजे, भीतर का रास्ता थोड़ा टेढ़ा ... कि सेनाएं (वैसे यहां कौन आती होंगी!) सीधे न घुस सकें। पत्थरों से जड़ी घुमावदार गलियां। मुख्य रिहायशी इमारत की तरफ़ दरवाज़ें, बाहर गार्डों के कमरे ... सब जगह जंगल फैल रहा था। वन विभाग का एक बन्दूकधारी गार्ड हमारे साथ हो गया था। भीतरी हिस्से में जाने की मनाही थी... क्योंकि वहां तेंदुआ के होने का खतरा था। हम गार्डों के कमरों के ऊपर चढ़ गये, नदी वाले हिस्से की तरफ़। वहां से महल में पानी पहुंचाने का दिलचस्प सिलसिला दिखाई दिया। नदी के किनारे की तरफ एक बड़ा कुंआ सा बना लिया गया था। नदी से पानी कुंए में भरता था, कुंए से इधर ऊपर खींच लिया जाता होगा। ऊपर से दृश्य विराट, सब तरफ खुला हुआ, भव्य था- नीचे बहती कूनो नदी इधर से उधर दूर-दूर तक ... उसकी धारा जरूर छोटी पर पाट चौड़ा, पार हरी पहाड़ियों की श्रृंखलाएं ... ऊपर आसमान का फलक ... गोलाकार, कहीं से भी न कटता हुआ। लेकिन जिस खंडहर बनी इमारत पर हम खड़े थे, उसे ओट करना भारी पड़ रहा था। कभी छोटा-मोटा राजा की ही सही ... कोठी रही होगी ... कितने प्रेम और यौवन ने अंगड़ाइयां ली होंगी यहां, जीवन की कितनी चपलताएं इसने देखी ... आज खंडहर है। इसके उत्थान-पतन को एकदम सामने से देखती पहाड़ियां हमेशा की तरह आज भी निश्चल खड़ी थी, कूनो हमेशा की तरह बहे चली जा रही थी ... निर्विकार । हमारा एक दिन का आना-जाना, यहां उछलकूद करना, याने हमारा गुज़रना भी देख रही है ...

काल की पदचाप कानों में पड़ रही थी। क्या कुछ नहीं रहता, कुछ नहीं बचता? नहीं ... सुन्दरता रहती है, काल का भी अतिक्रमण कर वह रहती है, नये नये रूपों में रहती है... जैसे अब भी सामने वितान में वह खिची हुई थी, यहां तक कि कोठी पर जंगल के धीरे-धीरे चढ़ते चले जाने में भी वह एक आकार ले रही थी ... सुन्दरता जिसे देखने हम आये थे और जिसे मन की पोटली में बांध यहां से लौटेंगे।

इशरत अली सिद्दीक़ी

राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान पत्रकारिता को जीवन का लक्ष्य बनाने वाले वरिष्ठ पत्रकार पद्म श्री इशरत अली सिद्दीक़ी जीवन के ९४ वें वर्ष में भी सक्रिय हैं यद्यपि आँखों से कम दिखाई पड़ने के साथ ही उन्हें अनेक बीमारियाँ अपनी चपेट में ले चुकी हैं।

उस दौर के बचे रह गये वह उन थोड़े से लोगों में हैं जिन्होंने न सिर्फ आज़ादी की लड़ाई को करीब से देखा बल्कि विभाजन की त्रासदी का गवाह बनते हुए उसे संवेदना के स्तर पर गहराई से अनुभव किया! वह उन विरल भारतीय नागरिकों में है जिन्हें महात्मा गाँधी का सान्निध्य व स्नेह तो प्राप्त हुआ ही स्वतंत्रता संग्राम तथा बौद्धिक साहित्यिक जगत की अनेक महान् विभूतियों के सम्पर्क में आने का बहुमूल्य अवसर भी प्राप्त हुआ। आज़ादी के बाद भी यह क्रम जारी रहा। बाद के काल की अनेक ऐतिहासिक घटनाओं एवम् आन्दोलन के दौर में स्थापित पत्रकारिता के उच्च मूल्यों के प्रति आज भी वे प्रतिबद्ध हैं। कठिन विपरीत परिस्थितियों में भी पत्रकारिता के लिए अपने समर्पण को उन्होंने कभी शिथिल नहीं होने दिया १९७४ में भारत सरकार ने उन्हें पद्मश्री उपाधि से अलंकृत किया। दिल्ली, मध्यप्रदेश, हरियाणा,उत्तर प्रदेश सरकारों व वहाँ की उर्दू अकादिमियों तथा अन्य संस्थानों द्वारा भी वे समय-समय पर पुरस्कृत-सम्मानित होते रहे हैं। काफी अर्सा वे नेशनल मीडिया सेण्टर के अध्यक्ष रहे, उ.प्र. प्रेस क्लब ने उन्हें दो बार सम्मानित किया।

विविध विषयों पर पत्र पत्रिकाओं में उनके गंभीर लेख आदि तो प्रकाशित हुए ही साथ ही गाँधी जी की भाषा नीति पर उनकी पुस्तक काफ़ी चर्चित हुई।

पद्मश्री इशरत अली सिद्दीक़ी से शकील सिद्दीक़ी की बातचीत

सहाफ़त की तरफ आप कैसे राग़िब हुए?

असल में हुआ यह कि जब मैंने बी.ए. पास कर लिया और रोज़गार की तलाश शुरू की तो मेरे एक दोस्त थे अहमद। अज़म अली अहमद के भाई यूनिवर्सिटी की लाइब्रेरी में लाइब्रेरियन थे। अज़मत अली नाम था उनका। उनके भाई ने मुझे मशवरा दिया कि लखनऊ से एक अख़बार निकलने वाला है, तुम उसे क्यों नहीं ज्वाइन कर लेते?''हिन्दुस्तान'' (वीकली) निकलने वाला था या शायद निकल रहा था। अलीम साहब उसके डाइरेक्टर थे। हयातुल्लाह अंसारी साहब एडीटर थे। मैंने जब यह बताया कि मैं वहाँ किसी को जानता नहीं, तो उन्होंने मुझसे कहा कि तुम यूनिवर्सिटी आ जाओ मैं तुमको डॉ. अलीम से मिलवा दूंगा। उन दिनों अलीम साहब यूनिवर्सिटी के अरबी डिपार्टमेण्ट में लेक्चरर थे। उस ज़माने में अलीम साहब क्विंटन रोड पर रहते थे। वहीं हिन्दुस्तान का दफ़्तर था। अलीम साहब ने दूसरे दिन से ही हिन्दुस्तान ज्वाइन करने को कहा। इस तरह अखबार नवीसी में आ गये। इससे पहले गोलागंज से एक हफ़्तावार अख़बार निकलता था ''पैग़ाम'' नाम था उसका। उसके एडीटर अवध अख़बार में भी काम कर चुके थे। तो वह मुझसे अपने अख़बार के लिए तर्जुमा बग़ैरा करा लिया करते थे। कुछ पैसे मिल जाया करते थे। तो वह तजरुबा हिन्दुस्तान में मेरे काम आया। नूरमंज़िल तब आश्रम कहलाता था, उसमें पादरी वग़ैरा रहते थे। मुझे वहाँ उर्दू पढ़ाने का काम मिल गया। मैं उन्हें उर्दू पढ़ाता वे मुझे अंग्रेज़ी जबान की बारीकियाँ समझते। उससे भी मुझे फायदा हुआ। जब ४२ का मूवमेण्ट चला है तो गांधी जी से तय हुआ कि वह हरिजन और खादी जगत में जो कुछ लिखेंगे उसकी प्रूफ कापी हमें भिजवा देंगे तो हम उसे उर्दू में तर्जुमा करके हिन्दुस्तान में छाप देंगे। इससे दोनों जगह एक साथ छप जायेगा। तो गांधी जी हमें अपनी तहरीरों का प्रूफ भिजवा दिया करते थे। मैं उनका तर्जुमा कर देता था। जब लोगों को इल्म हुआ कि मैंने ऐसी जिम्मेदारी ली है तो उन्होंने कहा कि तुम हिन्दी से उर्दू में तर्जुमा कैसे कर पाओगे। वह भी गांधी जी की हिन्दी का। तुमने तो हिन्दी पढ़ी भी नहीं। मैंने जवाब दिया कि मैंने इतनी हिन्दी पढ़ी है कि गांधी जी की तहरीरों का तर्जुमा कर सकता हूँ। और अगर मैं नहीं कर पाऊंगा तो पूरे कोई नहीं कर पायेगा।

कुछ दुश्वारी तो आपको पेश आती होगी?

कभी कोई दिक्कत आती भी थी तो मैं साइकिल उठाता था और हीवेट रोड, सोशलिस्ट पार्टी के दफ़्तर चला जाता था, वहाँ एक सिन्हा साहब थे वह मेरी मदद कर दिया करते, वहाँ से एक अख़बार भी निकलता था।

सिन्हा साहब का पूरा नाम याद है आपको?

नहीं पूरा नाम तो याद नहीं बहरहाल अख़बार का नाम मुझे याद है, संघर्ष नाम था उसका, अच्छा अख़बार था।

फिर गांधी जी ने अख़बार बन्द करने को क्यों कहा आप लोगों से?

सन् ४२ का मूवमेण्ट जब चल रहा था तो गांधी जी ने कहा कि ब्रिटिश हुकूमत तुम लोगों को आज़ादी से लिखने नहीं देगी। इसलिए अख़बार बंद कर दो। एक तरह से यह उनका प्रोटेस्ट था। कई लोगों की राय थी कि अख़बार ''हिन्दुस्तान'' बन्द नहीं करना चाहिए। मेरा स्टैण्ड यह था कि जब गांधी जी ने कहा है तो बन्द कर देना चाहिए। तो इस तरह अख़बार बन्द हो गया फिर ऐडमिनिस्ट्रेशन ने नैशनल हेरल्ड के दफ़्तर पर कब्जा कर लिया खैर वह एक अलग कहानी है। हेरल्ड की बिल्डिंग में जहाँ पोस्ट आफिस हुआ करता था वहां हमारा आफिस हुआ करता था। हिन्दुस्तान अलीम साहब के यहाँ से मुन्तकिल होकर यहाँ आ गया था। तो जब हिन्दुस्तान बन्द हो गया तो हम फिर बेकार से हो गये। उस ज़माने में हैदराबाद से क़ाजी अब्दुल ग़फार साहब एक अख़बार निकालते थे ''पयाम''। मेरे एक अज़ीज़ थे सुल्तान साहब, यहीं युनिवर्सिटी में पालिटिक्स पढ़ाते थे। उन्होंने मुझसे कहा कि तुम हैदराबाद क्यों नहीं चले जाते, काजी साहब के अख़बार में। सुल्तान साहब क़ाजी साहब के दामाद थे। हुआ यह था कि क़ाजी साहब ने अपना अख़बार सिब्ते हसन (मरहूम वामपंथी विचारक लेखक) साहब के सिपुर्द कर रखा था, सिब्ते हसन को कम्युनिस्ट पार्टी ने बम्बई बुला लिया तो वह अख़बार छोड़कर चले गये। क़ाजी साहब खुद मुरादाबाद आ गये थे। जब सुल्तान साहब ने ज़्यादा जोर दिया तो मैंने उनसे कहा कि हैदराबाद में तो निज़ाम शाही हैं। निज़ाम ब्रिटिश हुकूमत के तरफ़दार हैं। मैं तो ब्रितानी हुकूमत और निज़ाम के खिलाफ लिखूंगा। मैं तहरीके आज़ादी के बारे मे पूरा छापूंगा। यह सब वहां की हुकूमत बर्दाश्त नहीं करेगी तो अख़बार कैसे निकल पायेगा। निजाम शाही मुझे वहां काम नहीं करने देगी। ऐसी सूरत में मेरे वहां जाने से क्या फ़ायदा? सुल्तान साहब ने मुझे समझाया नहीं तुम जाओ और मुरादाबाद रुकते हुए जाओ वहां क़ाज़ी साहब से अख़बार की पालिसी के बारे में बात कर लेना। ख़ैर.... क़ाजी साहब ने मुझे इत्मीनान दिलाया और मैं तीसरे दर्जे में बैठकर हैदराबादा चला गया। डेली अख़बार का मुझे तज़ुर्बा बिल्कुल नहीं था। वहां हिन्दुस्तान वीकली में मैंने जो मेहनत की थी उसने मेरी बहुत मदद की। मुझे अपने ऊपर एतिमाद भी था। मेरा पहला टकराव वहां ज़बान को लेकर हुआ। उस वक़्त वहां के अख़बारों में आम तौर से हैदराबादी उर्दू इस्तेमाल होती थी। मैं लखनवी उर्दू का आदी था। तो मैंने वहां अपनी वाली उर्दू चलाई लोगों ने नाका भौं सिकोड़ी लेकिन वह चल निकली तो चल निकली। पाबन्दियों का ज़माना था गांधी जी, मौलाना आज़ाद वग़ैरा जेल में थे। सेन्सर लगा हुआ था वहां। सन् ४२ के मूवमेण्ट का कुछ असर वहां भी था। मूवमेन्ट की खबरें या गांधी जी बग़ैरा की तस्वीर छापने पर पाबन्दी थी। मैं इधर-उधर करके कुछ चीजें छाप दिया करता था। एक बात का जिक्र करना मैं भूल गया था कि मैं मुरादाबाद में मुलाकात के दौरान क़ाजी साहब ने कहा था कि अख़बार तो तुम देख लेना मगर एदारिया (सम्पादकीय) मैं यहां से लिखकर भेजा करूंगा। क़ाजी साहब बहुत मसरूफ आदमी थे, वह एदारिया नहीं भेज पाते थे।

नतीजतन एदारिया भी मैं लिख दिया करता था। लोग यह समझते थे कि एदारिया क़ाज़ी साहब ही लिख रहे हैं।

ख़ैर.... ग़रज़ यह कि गांधी जी ने जेल में व्रत शुरू कर दिया था। इन्फारमेशन डायरेक्टर का हुक्म था कि गांधी जी के व्रत के बारे में कोई ख़बर अख़बारों में नहीं छपेगी। मैंने यह हरकत की कि मेरे पास हरिजन के कुछ पुराने शुमारे थे। उनमें से एक शुमारे में गांधी जी के पहले रखे गये व्रत के बारे में छपा था। मैंने उसका उर्दू तर्जुमा करके इन्फारमेशन डायरेक्टर को भेज दिया इस नोट के साथ कि यह खबर क्योंकि एक पुराने व्रत के बारे में है तो क्या इसे अख़बार में छापा जा सकता है। इन्फारमेशन डायरेक्टर ने कोई जवाब देने के बजाये ख़मोशी इख़्तियार कर ली। तभी वहां रेडक्रास की तरफ से एक डान्स प्रोग्राम रखा गया। बताया यह गया कि इस प्रोग्राम से जो आमदनी होगी उसे वार फण्ड में जमा कराया जायेगा। इन्फारमेशन डिपार्टमेण्ट ने इस बार मज़्मून का एक इश्तिहार पयाम में छापने के लिए भेजा। हमने साफ मना कर दिया कि गांधी जी का व्रत चल रहा है। मैं इसे नहीं छाप सकता। फिर डायरेक्टर का फोन आया कि इस इश्तिहार को अख़बार में छापना ज़रूरी हैं मैंने उन्हें भी मना कर दिया। तब होम सेक्रेटरी का फोन आया जो कि अली यावर जंग थे, जो बाद में सेण्ट्रल में चले गये थे। अलीगढ़ मुस्लिम युनिवर्सिटी के वाइस चांसलर भी रहे, बाद में कहीं के गवर्नर भी हो गये थे, उन्होंने मुझे अपने आफिस में बुलाया और कहा कि इश्तिहार क्यों नहीं छाप रहे हो, इसका छपना ज़रूरी है। मैंने फिर वही कहा कि जेल में गांधी जी का व्रत चल रहा है। सारा मुल्क फ़िक्रमन्द है, अफसोस में डूबा है इन हालात में मैं नाच गाने का इश्तिहार नहीं छापूंगा। अली यावर जंग ने जैसे हल्की सी धमकी दी। सोच लो निज़ाम की स्टेट में हो तुम। मैंने झल्लाकर कहा 'साहब आप लोग हमारे ही अख़बार में इस इश्तिहार को छपवाने पर इतना ज़ोर क्यों दे रहे हैं।' क़ाज़ी साहब ने तब कहा कि क्योंकि सरकार (निज़ाम) तुम्हारा ही अख़बार पढ़ते हैं। पयाम में इसके छपने का मतलब होगा कि सरकार भी इसे देख लेगें और उनकी काबीना के दूसरे मेम्बरान भी! वरना तुम्हारे अख़बार पर आफत आयेगी! मैंने भी सोचा कि कोई मुसीबत आई तो अख़बार पर आयेगी और अख़बार मेरा नहीं काज़ी साहब का हैं! क़ाज़ी साहब भी परेशान होंगे! मैंने यह किया कि कुछ कापियों में वह इश्तिहार छाप दिया और उतनी कापियां अली यावर जंग साहब के पास भेज दी! वह बहुत खुश हुए सरकार (निज़ाम) भी खुश हुए ही होंगे!

तो क्या आपके अख़बार को लेकर वहां के एडमिनिस्ट्रेशन में कोई नरमी आई?

नरमी नहीं आई! हमारे अख़बार पर कड़ी नज़र रखी जाती थी! यहाँ तक कि नवाब बहादुर जंग भी पब्लिक मीटिंग्स में हमारे अख़बार और इसमें काम करने वालों को बुरा भला कहते थे!

आपका अख़बार तहरीके अज़ादी और कांग्रेस का हिमायती रहा होगा?

हाँ वह तो था। क़ाज़ी साहब बज़ाते खुद भी तहरीक के साथ थे! वह मौलाना आज़ाद के साथ काम कर चुके थेः उनका बहुत असर था उनके ऊपर!

हैदराबाद में तो कई मशहूरोमारूफ़ सहाफी हुए हैं सियासत जैसा अख़बार निकलता है वहाँ से उन लोगों से अपनी मुलाक़ाते रही होंगी!

हाँ-हाँ कुछ से थी, कुछ से नहीं थी, आबिद हुसैन अक्सर आते थे मिलने! एक तरफ से सहाफ़त की ए.वी.सी.मैंने ही उन्हें सिखाई

आप हैदराबाद में कब तक रहे?

मैं सन् ४५ दिसम्बर तक वहाँ रहा। जब लखनऊ से क़ौमी आवाज़ निकलना शुरू हुआ तो हयातुल्लाह साहब और दूसरे लोगों ने मुझे लखनऊ बुला लिया। क़ाज़ी साहब ने बहुत रोका लेकिन मैं चला आया। हयातुल्लाह साहब एडीटर थे, वही हिन्दुस्तान में भी एडीटर थे। मैं क़ौमी आवाज़ में चला तो आया लेकिन यहां किसी को डेली अख़बार का तजुर्बा था नहीं। सारी जिम्मेदारी मेरे ऊपर आ गई! लोगों को बताना समझाना ट्रेण्ड करना।

उस वक़्त क़ौमी आवाज़ में आपके साथ कौन-कौन लोग थे?

मसीहुल हसन रिज़वी बाक़र साहब थे, जो बाद में पकिस्तान चले गये, मोहम्मद हसन थे, इस्तीफ़ा हुसैन थे, जो निगाह के सख़्त मुखालिफ़ होने के बावजूद पाकिस्तान चले गये। वहाँ उन्होंने की क़ब्र के समाने खड़े होकर जिनाह को सैकड़ों गालियाँ दी।

मुजीब सिहालिवी थे सण्डीला में हमारे एक अज़ीज़ होते थे, वजाहत (वजाहत अलीसन्दीलवी) मतीन साहब थे, हबीब साहब एक बाराबंकी के थे, बाद में उस्मान ग़नी आ गये थे,फिर अहमद जमाल पाशा आये, मंज़र सलीम थे, क़ैसर तमकीन और आबिद सुहैल भी रहे!

अहमद इब्राहीम अलवी भी स्टाफ़ में थे।

उर्दू सहाफ़त ख़ासतौर पर क़ौमी आवाज़ की तरक़्क़ी में आप हयातुल्लाह साहेब के कान्ट्रीब्यूशन को किस तरह देखते हैं?

उनका कान्ट्रीब्यूशन तो बहुत अहम है, वह जिद्दत पसंद थे, नई-नई ईजादों का उन्हें बहुत शौक़ था, उन्होंने हफ़्तावार मैगज़ीन का सिलसिला शुरू किया। सबसे बड़ा कान्ट्रीब्यूशन तो उनका यह है कि उन्होंने मुझे आज़ादी से लिखने का मौका दिया। लेकिन उनका ख़ास कान्ट्रीब्यूशन तो उर्दू फ़िक्शन में है।

उन दिनों लखनऊ से और कौन से अख़बार निकल रहे थे?

ठीक-ठीक तो याद नहीं ''हम दम'' कभी-कभी निकलता था, क़ायद निकलता था मुस्लिम लीग का। अवध अख़बार व अवध पंच तो बन्द हो चुके थे। हफ़्तावार सरफ़राज़ था। शिया कान्फ्रेन्स उसे शाया करती थी। ग़ालेबन अब्दुल माजिद दरियावादी का भी एक अखबार निकलता था।

क़ौमी आवाज़ में काम करने के दौरान पण्डित नेहरू से आपकी एक मुलाक़ात का बहुत ज़िक्र मिलता है, तो पण्डित नेहरू से आपकी मुलाकात कब हुई।

कह नहीं सकता। जेल से जब वह रिहा हुए तो उन्हें रिसाव करने एक मजाम चला जा रहा था, मैं भी चला गया। स्टेशन से एक जुलूस की शक्ल में उन्हें बख़्शी साहब के घर तक लाये, स्वरूप कुमारी बख़्शी के शौहर तब वह स्टेशन रोड पर ही रहते थे, वहीं रुके थे पण्डित नेहरू। हम उन्हें सलाम करने गये तो उन्होंने मुझे गले लगा लिया?

तो क्या नेहरू जी आप से ज़ाती तौर पर वाक़िफ़ थे?

नहीं ज़ाती तौर पर वाक़िफ नहीं थे वह कांग्रेसियों से उसके वॉलटियर्स से, नौजवानों से इतना प्यार करते थे। उसी ज़ज़्बे से वह मुझसे गले मिले।अख़बार में जब काम करने लगे तो पण्डित जी वहाँ आते थे।

गाँधी जी से आपकी पहली मुलाकात कब हुई?

हैदराबाद में मैं जब था तब उनसे वहां मुलाकात हुई, डॉ.महमूद जेल (अहमदाबाद) से रिहा हुए तो वह बीमार थे। गाँधी जी ने उनको अपने यहाँ रख लिया और कहा तुम कहीं न जाओ, यहीं आराम करो। गाँधी जी से मेरी ख़तो किताबत होती रहती थी, उन्होंने मुझे बुलवा भेजा कि तुमसे एक काम है, कर सको तो आ जाओ, मैं उनके पास गया तो उन्होंने कहा कि काम की तफ़सील तुम्हें मृदुला जी (मृदुला साराभाई) बतायेंगी। थोड़ी देर में मृदुला जी आ गयी? यह सेवाग्राम का वाक़या है! गाँधी जी ने तअर्रुफ़ कराया और कहा कि इन्हें काम की तफ़सील बता दो मृदुला जी ने बताया कि कस्तूरबा ट्रस्ट का काम हैं। कुछ किताबें लिखी जानी हैं, कुछ तर्जुमे का काम है। डॉ. महमूद भी मौजूद थे उस वक़्त। मैंने पूछा, रहना कहां होगा? उन्होंने कहा तुम जहाँ कहोगे, अहमदाबाद बम्बई वहां इन्तिज़ाम करा देंगे! तब मैंने मृदुला जी से दरियाफ़्त किया कि आप कहां रहेंगी। उन्होंने बताया कि मैं कहीं नहीं रहूँगी मेरा क्या आज यहां कल वहां। यह सुनकर मैंने कह दिया कि फिर मैं भी कहीं नहीं रहूँगा जहाँ आप रहेंगी वहीं मैं रहूँगा, नहीं तो मैं वापस चला जाऊँगा। और वहीं से जो काम आप कहेंगी, कर दूँगा।

कहीं आप उनमें अपनी मरहूम मां को तो नहीं देख रहे थे?

वाक़्यतन यही बात थी क्योंकि मेरी मां जब हम बहुत छोटे थे तभी इन्तिकाल फरमा गयी थी, इसलिए मुझे जैसे को हर बुजुर्ग औरत में मां की तलाश रहती थी। मैंने हैदराबाद वापस आने का फैसला कर लिया तब उन्होंने कहा कि तुम हैदराबाद में तमाम उर्दू अख़बारों में हमारी तहरीक के बारे में, गांधी जी या कांग्रेस के बारे में जो कुछ छपता है उसकी एक सिनॉप्सिस अंग्रेजी में बनाकर भेज दिया करो। मेरे लिए यह काम कोई मुश्किल नहीं था! मैं बाक़ायदगी से उन्हें उर्दू अख़बारों की सिनॉप्सिस भेज दिया करता जिसे गाँधी जी जरूर पढ़ते।

आप सेवाग्राम किस सन् में गये?

मैं सन् ४४ में वहां गया था महीना याद नहीं ।

कितना अरसा रहे वहां आप?

ज्यादा नहीं रुक पाया। जब हम चलने लगे तो गाँधी जी ने कहा कि वर्धा में हिन्दुस्तानी प्रचार सभा की कान्फ्रेन्स हो रही है उसे अटेण्ड कर लो। तब वर्धा और सेवाग्राम के बीच तांगे चलते थे। हम उसी से गये। वहाँ डॉ.ताराचन्द, सुलेमान नदवी बग़ैरा से मुलाकात हुई। अंजुमन तरक़्क़ी उर्दू की नुमाइन्दगी ब्रजमोहन दत्ता कैफ़ी कर रहे थे। गांधी जी हिन्दुस्तानी के ज़बरदस्त हिमायती थे। मुस्लिम लीग ज़बान के मस्अले पर भी गाँधी जी के ख़िलाफ तहरीक चला रही थी कि गांधी तो उर्दू के मुख़ालिफ हैं। जिसकी मुझे बहुत तकलीफ थी। गांधी जी न उर्दू के मुखलिफ थे, न हिन्दी के बस वह हिन्दुस्तानी के हिमायती थे। मुझे याद है कि हिन्दुस्तानी प्रचारिणी सभा की एक कान्फ्रेन्स में उन्होंने साफ़ लफ़्ज़ों में कहा कि मैं चाहता हूँ कि आज़ाद हिन्दुस्तान की क़ौमी ज़बान हिन्दुस्तानी बने, ऐसी हिन्दुस्तानी जिसे उर्दू व हिन्दी दोनों रस्मुलख़त में लिखा जा सके, जिसे सब लोग समझ सकें। जो उर्दू वाले हिन्दी रस्मुलख़त नहीं जानते उन्हें चाहिए कि वह इस रस्मुलख़त (लिपि) को सीख लें हिन्दी वालों को भी चाहिए कि वो उर्दू रस्मुलखत से वाक़िफियत हासिल करें। आनन्द कौशल्यायन ने इसकी मुख़ालेफ़त की ओर कहा कि हिन्दी वाले तो उर्दू सीख लेंगे लेकिन उर्दू वाले यानी मुसलमान हिन्दी नहीं पढ़ेंगे। हाँलांकि गांधी जी से आँखें मिलाने की हिम्मत वह नहीं कर पा रहे थे। गांधी जी को एकदम से गुस्सा

आ गया उन्होंने कहा कि हम बदले की कार्यवाही नहीं चाहते। हम तो यह चाहते हैं कि क़ौमी ज़बान हिन्दुस्तानी होनी चाहिए जो दोनों रस्मुलख़त में लिखी जाये इसलिए लोगों को चाहिए कि वे दोनों रस्मुलख़त सीखें। जिनको यह काम मुश्किल लगता है वो मुझे बतायें, मैं उन्हें छः महीने में इतनी हिन्दी और उर्दू सिखा दूंगा जितनी वो सोलह बरस में अंग्रेज़ी सीखते हैं। बहरहाल..... वर्धा वाली कान्फ्रेन्स को गांधी जी ही प्रीसाईड कर रहे थे। उनका मौन व्रत था इस वजह से उन्होंने पेंसिल से तकरीर लिख कर दे दी थी। एक बात और अंजुमन तरक़्क़ी उर्दू के नुमाइन्दे दत्ता कैफी ने अंजुमन के अख़बार हमारी जबान में इल्ज़ाम लगाया कि कान्फ्रेन्स में उन्हें बोलने नहीं दिया गया जबकि उन्हें दो बार मौक़ा दिया गया और वह बोले भी।

क़ौमी आवाज़ जब लखनऊ से निकला तो उसे लेकर लीग वालों का क्या रवैया था?

कांग्रेसी अख़बार था इसलिए उसके हिमायती तो वो हो नहीं सकते थे लेकिन उसकी मुखालेफ़ित कम करते थे वजह यह थी कि हम उनके लीडरान के बयान भी छापते थे। वो लोग हमारे अख़बार को पढ़ते भी थे।

मुस्लिम लीग का कोई अख़बार उस वक्त लखनऊ से निकलना था?

क़ायद नाम का अख़बार उनका निकलता था। यहां गूंगे नवाब के पार्क के पास उसका दफ़्तर था। तनवीर भी निकलता था! ग़ालेबन तनवीर बाद में निकला।

तहरीके आज़ादी में आपकी शिरकत की क्या नौइयत थी?

हमारी शिरकत तो कमोवेश बज़रिया कलम ही थी कभी वालंटियर की हैसियत से किसी जलसे जुलूस में चले गये। वक़्त ही नहीं मिलता था, अख़बार में ही इतना काम रहता था कि सर उठाने की मुश्किल से फ़ुर्सत मिलती थी।

कौमी की आवाज़ जब निकला है तो डॉ. अलीम आप लोगों के साथ नहीं थे?

नहीं थे, बिल्कुल थे।

लेकिन वह कौमी आवाज़ के स्टाफ में तो नहीं थे?

हाँ, स्टाफ में नहीं थे, हिन्दुस्तान में थे वह! कौमी आवाज़ के दफ़्तर आते थे। लेकिन लिखते नहीं थे।

दुनिया का हाल 'कलम' तो उन्होंने ही शुरू किया था?

नहीं, वह हमने शुरू किया था और हिन्दुस्तान से ही किया था। आलमीजंग की वजह से तो यह कालम शुरू करना पड़ा। रजनी पामदत्त की किताब वर्ल्ड पालिटिक्स से भी हमको तरग़ीब (प्रेरणा)मिली।

क़ौमी आवाज़ को लेकर लोगों का रिस्पांस कैसा था?

रिस्पांस तो बहुत अच्छा था लोग पढ़ते थे हमारा अख़बार। दस्तूर यह था कि अख़बार का एदारिया भी उस दिन खास ख़बरों पर बेस्ड होता था।

एदारिया तो ज़्यादातर हयातुल्लाह साहब ही लिखते होंगे?

नहीं, वह भी लिखते थे मैं भी लिखता था। हयातुल्लाह साहब के एदारियों का ख़ास मौजू होता था

मुसलमान, मुस्लिम लीग और उसकी पॉलिटिक्स, डॉ.फरीदी के ख़िलाफ वह खूब लिखते थे। वह अली मिंया और नदवा के ख़िलाफ भी लिखते थे। मसलन अली मिंया। अली मिया-२ फरीदी-१ डॉ. फरीदी-२

फिरंगी महल वालों के खिलाफ?

इण्डिवीजुवल्स के ख़िलाफ लिखा हो तो लिखा हो, वरना फिरंगी महल वालों के खिलाफ जहां तक मुझे याद पड़ता है, उन्होंने नहीं लिखा। असल में हुआ यह कि हयातुल्लाह साहब की एदारियों की वजह से बहुत से मुसलमान कांग्रेस से बदज़न होने लगे थे। यहाँ तक कि बहुत से लोग उन्हें कम्युनिस्ट समझने लगे थे। जबकि वह थे पक्के कांग्रेसी।

इतनी लम्बी सहाफ़ती जिन्दगी है आपकी, आज जिन्दगी के ६२वें साल में आप उसके बारे में क्या ख़्याल करते है?

देखिये सहाफत तो हमारी ज़िन्दगी थी हमारी ज़िन्दगी का मिशन था हम अख़बार के इलावा कुछ सोचते ही नहीं थे। जितनी मेहनत हो सकती थी, करते थे, हमने कभी किसी से कुछ नहीं चाहा, कभी किसी ओहदे या मुराआत का लालच नहीं किया। यकमगीर व मोहकमगीर वाला मामला था हमारा। सहाफ़त से कुछ हासिल करने का ख़्याल हमारे दिल में कभी नहीं आया। और हम इस सूरते हाल से पूरी तरह मुतमईन। हम जिस हाल में हैं खुश हैं। राज्यसभा में नामिनेशन का मामला आया तो मैंने मना कर दिया। मैं क्या करूंगा, वहां जाकर?मैंने बायोडाटा नहीं दिया। मेरा बेटा नाराज़ भी हुआ।

तनख्वाह कितनी मिलती थी आपको?

कोई ठीक नहीं था, जो मिल गया, ले लिया, कभी तीस कभी चालीस।

डॉ. अलीम के इलावा, रशीद जहां और उनके शौहर डॉ.महमूदुज़्ज़फर से भी आपकी मुलाक़ातें रहती थीं, उनके बारे में आपका क्या ख़्याल है?

बहुत अच्छे लोग थे, मुहब्बत करने वाले, तीनों कम्युनिस्ट थे मेरा उनसे इख़्तिलाफ रहता था, कई मामलों में। बावजूद इसके उनकी मुहब्बत में कोई फर्क नहीं आता। महमूदुज़्ज़फर तो बिल्कुल बच्चों की तरह समझाते थे मुझे। सन् ४२ की तहरीक के वक़्त जब कम्युनिस्ट पार्टी ने दूसरी जंगे अज़ीम को क़ौमी जंग कहा तब भी मैंने महमूदुज़्ज़फर से नाराज़गी ज़ाहिर की और उन्होंने उसी तरह मुझे फिर कायल करने की कोशिश की। बहुत डेडीकेशन था, उन लोगों में अपने मक्सद के लिए। कोई भी कुर्बानी देने को तैयार रहते थे, रशीद जहां तो बहुत जोशीली ख़ातून थीं हाजर बेगम भी अच्छी खातून थीं।

आपका इन लोगों से तअर्रुफ़ कैसे हुआ?

अलीम साहब ही ने करवाया। उनके यहां ये लोग आते थे। हिन्दुस्तान का दफ़्तर उन्हीं के घर पर था उनके यहां प्रोग्रेसिव राइटर्स के जलसे भी होते थे सुरूर साहब भी आते थे, एहतिशाम साहब भी।

दूसरों की बनिस्वत आप अलीम साहब के ज़्यादा करीब थे इसकी क्या वजह थी? जब कि वह कम्युनिस्ट थे और आप कांग्रेसी?

कोई ख़ास वजह नहीं थी उनकी शख़्सियत में इतनी संजीदगी और फ़िक्र अंग्रेज़ी थी, वह खुद दूसरों

का बहुत ख़्याल रखते थे।

अलीम साहब की जब गिरफ़्तारी हुई है ग़ोलबन १९४२ में ....?

नहीं, अप्रैल १९४१ का वाक़या है। डिफेन्स आफ इण्डिया रूल्स के तहत वह गिरफ़्तार हुए थे। पहले लखनऊ जेल में फिर आगरा जेल में रखे गये, आगरा में पण्डित नेहरू और सरोजनी नायडू भी कैद थीं। जिन दिनों वह गिरफ़्तार हुए हैं उनकी अहिला उम्मीद से थीं। घर में और कोई मर्द नहीं था। लखनऊ में उनके जो अज़ीज़ थे उन्होंने गिरफ़्तारी होते ही उनसे व उनके अहले ख़ानदान से किनारा कर लिया। गिरफ़्तारी के बाद जब मैं उनके घर गया तो उनकी बीबी रोने पीटने लगीं। अब क्या होगा?घर कौन देखेगा। बच्चों को कौन पढ़ायेगा?उस वक़्त के उनकी दो ही लड़कियां थीं। बच्चों को पढ़ाने और कुछ दूसरे कामों की ज़िम्मेदारी मैंने ले ली। क्विण्टन रोड वाला मकान छोड़ कर वह अलीम साहब की बहन के यहां बाग क़ाजी में आ गयीं थी। सभी मंजिल कहते थे शायद उसे.....

जी...जी... मैं भी वहां काफी अरसा रहा हूँ

हाँ....हाँ तुम भी रहे हो, अलीम साहब की बहन का घर तुम्हारे घर के पीछे था। मैं साइकिल से रोज़ वहां बच्चियों को पढ़ाने जाता था। और कोई काम होता था वह भी कर देता था, जिन दिनों अलीम साहब आगरा जेल में थे। उन्होंने अपनी बीबी से कहलावाया कि मुझे यहां से देवली कैम्प मुन्तकिल किया जा रहा है हो सके तो आकर मिल जाओ। अलीम साहब की बीबी ने मुझसे साथ चलने को कहा तो मैं राज़ी हो गया। हालांकि वह मुझसे पर्दा करती थीं ख़ैर हम लोग ट्रेन से रवाना हुए। वह ज़नाना डिब्बे में और मैं मर्दाना डिब्बे में। जब गाड़ी किसी स्टेशन पर रुकती तो मैं भाग कर ज़नाना डिब्बे की तरफ जाता। जहां वह बैठी हुई थीं। उसके पास वाली खिड़की के सामने पीठ करके खड़ा हो जाता। उन्हें किसी चीज़ की जरूरत होती तो बता देतीं।

आज़ादी के बाद क़ौमी आवाज़ का माहौल कैसा था?

माहौल में ज़्यादा फर्क नहीं आया कुछ आसानियां जरूर हो गयीं थी मैं अब भी उतनी ही मेहनत करता था। क़ौमी आवाज़ की पापुलेरिटी बराबर बनी हुई थी। शायद इसकी वजह यह थी कि सरकार के ग़लत कामों की नुक्ताचीनी करने में हम पीछे नहीं रहते थे। हयातुल्लाह साहब, मैं और हमारी टीम के दूसरे अफ़राद की भी कोशिश रहती कि कैसे क़ौमी आवाज़ को बेहतर से बेहतर बनायें और वह एक मुकम्मल अखबार की हैसियत हासिल करे। हमने बहुत सी नई चीज़ें ईजाद की थीं। उर्दू सहाफ़त का एक मुख़्तलिफ कल्चर क्रियेट किया था। एक सहाफ़ती जबान बनाई हमने।

सरकार के ग़लत कामों की नुक्ताचीनी करने पर आप लोगों को कुछ कहा नहीं जाता था?

उसकी हम परवाह नहीं करते थे, अब देखिये इमरजेन्सी का ही वाक़्या है। कुत्ते मारने के लिए शहर में म्युनिस्पैलिटी की तरफ से गोलियां डाली गयी थीं। चौक इलाके में हरिजनों के दो बच्चों ने ग़लती से उन्हें खा लिया। बच्चे मर गये। सूबे में कांग्रेस की सरकार थी। हमारा रिपोर्टर (रज़ा अंसारी) जब यह ख़बर लाया तो हमने उसे छापने का फैसला किया। हमारे फैसले की खबर किसी तरह लीक होकर एडमिनिस्ट्रेशन तक पहुँच गयी। रात में जब मैं सोने की तैयारी कर रहा था रात के ग्यारह साढ़े ग्यारह बजे थे। मेरे पास एस.एस.पी. का फोन आया कि आप इस ख़बर को मत छापिये। मैंने उनकी बात मानने से इंकार कर दिया तब डी.एम. का फोन आया, उन्होंने कहा आपको मालूम नहीं कि इमरजेन्सी लगी हुई है, मैंने कहा आपके पहले से मालूम है। इस पर उन्होंने कहा कि फिर भी

आप शहर में बदअम्नी फैलाने वाली ख़बर छापने जा रहे हैं। मैंने जवाब दिया कि बतौर अखबार नवीस फर्ज़ है। यह हम तय करेंगे कि अख़बार में क्या छपना चाहिए और क्या नहीं छपना चाहिए। यदि आपने यह ख़बर छापी तो हम कल सुबह आपका अख़बार प्रेस से बाहर नहीं आने देंगे। इस पर मैंने कहा कि यह तो सुबह देखा जायेगा, हमारी हिम्मत होगी तो हम ख़बर भी छापेंगे और अख़बार प्रेस से बाहर भी जाएगा। आपमें हिम्मत है तो रोक लीजिएगा और हमने ख़बर भी छापी अख़बार को प्रेस से बाहर भी ले गये। मेरे पास इन्फ़ारमेशन डिपार्टमेन्ट से फोन आया कि प्रिन्ट लाइन में बतौर एडीटर आपका नाम नहीं जाएगा, डी.एम. या एस.एस.पी. का नाम जाएगा। मैंने कहा, अख़बार हम निकालते हैं नाम डी.एम., एस.एस.पी. का जाएगा, हम यह नहीं होने देंगे। एक बात और थी कि जब हम पर किसी ख़बर को छापने के लिए बहुत दबाव पड़ता था तो उस ख़बर की जगह खाली छोड़ देते ताकि पढ़ने वाले यह जान सकें कि यहाँ ख़बर को सेन्सर किया गया है। तो हम कभी कांग्रेस या सरकार के ढिंढोरची नहीं बने अब देखिये हमारे ही इरादे के अंग्रेज़ी अखबार नेशनल हेराल्ड के जो एडीटर थे उन्होंने लिखा इण्डिया इज इन्दिरा, इन्दिरा इज इण्डिया लेकिन हमने यह भी नहीं किया। खुशामद हमने किसी की नहीं की। एक बार पंत जी (पचास के दशक में उ.प्र. के मुख्यमंत्री) ने नेहरू जी से शिकायत की कि हमारे ही अख़बार हमारी सरकार को क्रिटिसाइज़ करते हैं। इस पर नेहरू जी ने जवाब दिया तो क्या आपका मतलब यह है कि मैं उनसे कह दूं कि यस मैन बन जायें। यह तो मैं नहीं कहूँगा।

आपने एक बार बिहार का एक वाक़या बयान किया था?

हाँ, बिहार में जगन्नाथ मिश्रा चीफ मिनिस्टर थे क़ौमी आवाज़ उन दिनों पटना से भी निकलता था तो वह बिहार प्रेस बिल बना रहे थे जिसमें अख़बार की आज़ादी पर कुछ पाबन्दियां थी, हम उस दिन दिल्ली में थे, हमको वहां पता लगा। स्टाफ के लोगों ने पूछा आज एदारिया किस सब्जेक्ट पर होगा कुछ समझ मे नहीं आता। मैंने कहा इसमें समझ मे न आने वाली क्या बात है। प्रेस बिल के ख़िलाफ एदारिया जायेगा। इस पर स्टाफ के लोगों ने कहा कि लेकिन पटना का एडीशन तो वहां की गवर्मेण्ट के सपोर्ट से निकलता है। वह इश्तिहार बन्द कर देगी तो हम मुश्किल में पड़ जायेंगे। मैंने बताया कि यह बात एकदम दुरुस्त है कि इश्तिहार बन्द होने से हम मुश्किल में पड़ जायेंगे लेकिन ज़मीर भी तो कोई चीज है, हमारा ज़मीर यह कहलाता है कि इस बिल के ख़िलाफ एदारिया लिखा जाना चाहिए तो हम लिखेंगे तो हमने लिख दिया। करीब पन्द्रह रोज के बाद यशपाल कपूर साहब से मुलाकात हुई, उन दिनों वह एसोशियेट प्रेस जरनल्स के मैनेजिंग डायरेक्टर थे। उन्होंने मेरा एदारिया पढ़ रखा था। उसी सिलसिले में बात निकली तो उन्होंने बताया कि जगन्नाथ मिश्रा का फोन आया था। वह तुम्हारी शिकायत कर रहे थे।

जवाहर लाल नेहरू वाला भी एक वाक़्या मशहूर है?

जब हम हिन्दुस्तान में थे तो एक दिन ज़मीन पर बैठे अख़बार के बण्डलों पर डाक टिकट चिपका रहे थे तो जवाहर लाल जी चिक उठाकर अन्दर आये, हमने ध्यान नहीं दिया मैंने सोचा कोई कांग्रेसी होगा, तो हमारा एक टाइपिस्ट था, मद्रासी था, स्वामी नाम था उसका। वह एक कोने में कुर्सी पर बैठा हुआ था, टाइपिस्ट बैठा रहा। जवाहर लाल जी ने नाक भौं चढ़ाई तो मैंने पूछा क्यों साहब क्या बात है, जवानी का ज़माना था, उन्होंने कहा तुम्हारे यहां गन्दगी बहुत हैं, मैंने कहा, हाँ गन्दगी तो है, देखिये मेरे हाथ में गन्दगी लगी हुई है। मेरे हाथ में लेई लगी थी। इस पर जवाहर लाल जी ने कहा यह तुम्हारा काम है। मैंने भी उसी लहजे में जवाब दिया, मेरा काम नहीं है लेकिन हमारे पास एक ही

आदमी है वही दफ़्तरी है वही चपरासी, उसे मैंने प्रेस भेजा है इसलिए उसके बजाये मैं ही डाक टिकट चिपकाये दे रहा हूँ। आज अख़बार पोस्ट होना ज़रूरी है, वरना बहुत नुकसान होगा। वे मुझे दूसरे कमरे में बुलाकर ले गये पूछा तुम्हारा कैसा काम चल रहा है?

मैंने जवाब दिया बहुत अच्छा चल रहा है। नहीं तुम्हारा पर्सनल काम। मैंने कहा वह भी बहुत अच्छा चल रहा है। मेरा मतलब यह है कि तुम्हें पैसे कितने मिलते हैं। मैंने बताया कभी पन्द्रह रुपये मिल जाते हैं तो कभी बीस मिल जाते हैं। कभी वह भी नहीं मिलते। तब उन्होंने कहा- 'खाते कहां से हो।' मैंने कहा खुद नहीं खाते हमारे वालिद साहब खिलाते हैं।- 'इसका मतलब तुम अपने भाई पर बोझ हो?' मैंने कहा, नहीं हमारा भाई बोझ है। वह पढ़ रहा है। उसकी फीस, खाने बगैरा का पैसा उन्हें देना पड़ता है। उसी में दो रोटी हम भी खा लेते हैं। कपड़े अपने हम खुद धो लेते हैं। हमारा कोई खर्च ही नहीं है। इस पर उन्होंने कहा नहीं हम तुम्हें पचास रुपये भेजेंगे। हमने कहा हम आपसे रुपये लेंगे नहीं। आपको अपनी किताबों की मुश्किल से चार पाँच सौ रुपये रायल्टी मिलती है। कांग्रेस से आप पैसा लेते नहीं। अपने खर्च पर आप सारे मुल्क का दौरा करते हैं हम आपसे पैसा नहीं ले सकते। यों भी पैसे का लालच कभी नहीं रहा।

जब क़ौमी आवाज़ निकाला १९४५ में तब आप लोगों को कितनी तनख़्वाह मिलती थी?

तनख़्वाह-तनख़्वाह क्या मिलती थी हम लोग तो काम के दीवाने थे, बस काम किए जाते थे क्या मिल रहा है क्या नहीं मिल रहा है इसकी परवाह ही नहीं करते थे। टी.एन.सिहं मैनेजर थे एक दिन उन्होंने पूछा अरे भाई इतना काम करते हो कुछ पैसे वैसे मिल जाते हैं? मैंने कहा पैसों की क्या ज़रूरत है हमारा काम ऐसे ही चल जाता है। फिर भी कुछ तो मिलने चाहिए। तब मैंने कहा अच्छा लाइये सौ रुपये, इस तरह मुझे सौ रुपये मिलने लगे।

तक़्सीम के वक़्त क़ौमी आवाज़ का अन्दुरूनी माहौल कैसा था?

माहौल एक दम ठीक था, कुछ वसवसे कुछ अन्देशे ज़रूरे थे लेकिन हमारा पूरा स्टाफ तक़्सीम और मुस्लिम लीग का मुखालिफ था। ग़ौर कीजिए मौलाना आज़ाद ने उन्हीं दिनों विक्टोरिया पार्क में मुसलमानों के एक जलसे को ख़िलाब किया। बहुत अहम मीटिंग थी वह। मुसलमान गहरी कशमकश में थे। उन दिनों कौमी आवाज़ शाम को निकलता था। मैंने फैसला किया कि मौलाना की तकरीर उसी दिन अख़बार में छपेगी। सबने हैरानी ज़ाहिर की यह कैसे मुमकिन है मैंने कहा मुमकिन है। मैं करके दिखाऊंगा।

मैंने यह किया कि मैं जलसे में गया। साथ में स्टाफ के दो लोगों को ले लिया। मौलाना तक़रीर करते जाते मैं लिखता जाता, जब एक दो सफ़े हो जाते तो फौरन उसे कातिब के पास भिजवा देता। इस तरह मौलाना की तक़रीर के थोड़े वक़्फे के बाद उनकी पूरी तक़रीर की किताबत हो चुकी थी। लीथो का ज़माना था कुछ ही घण्टों में अख़बार में मौलाना की तक़रीर छप गयी। इसी तरह पार्टीशन के वक़्त हुआ हमने इस मौके पर एक सप्लीमेन्ट निकालने का फैसला किया। हुकूमत ने तय किया था कि पार्टीशन का फार्मूला एक साथ पूरे मुल्क में रिलीज़ किया जायेगा। सब कह रहे थे कि यह फार्मूला पहले नैशनल हेराल्ड (अंग्रेजी अखबार) में छपेगा बाद में क़ौमी आवाज़ में। मैंने कहा नहीं यह पहले कौमी आवाज़ में छपेगा बाद में हेराल्ड में और हमने यह कर दिया दिखाया। असल में स्टाफ के लोग और प्रेस के लोग हमारी बात बहुत मानते थे। इसलिए हम कुछ भी कर गुज़रने को तैयार रहते।

मौजूदा दौर की उर्दू सहाफ़त के बारे में आपका क्या ख़्याल है?

बहुत नाउम्मीद हूँ। ज्यादातर अख़बारों में जबान की ग़ल्तियां होती हैं। न्यूज़ सेन्स की कमी नजर आती है कहाँ कौन सी खबर किस तरह दी जाने चाहिए इस बावत जैसी एहतियात होती है वह कम दिखाई पड़ती है।

उर्दू सहाफ़त का मुस्तकबिल ....?

ज़बान का ही मुस्तकबिल जब तारीक हो तो अदब और सहाफ़त का मुस्तकबिल कैसे ताबनाक हो सकता है।

आपको पद्मश्री का एज़ाज कब मिला?

२३ मार्च १९७४ को। सद्र वी.वी. गिरि के हाथों उसी मौके का वाक़या है, फंक्शन खत्म होने के बाद में वापस जाने के लिए हाल से बाहर निकला तो ऑल इण्डिया कांग्रेस के आहदेदार मिल गए।पुराने शनासा थे। उन्होंने पूछा इन्दिरा जी से नहीं मिलोगे। इन्दिरा जी उस वक़्त वज़ीरे आज़म थी। मैंने कहा भी फंक्शन हाल में तो मुलाकात हो चुकी है। अब अलग से मिलने की जरूरत! अरे भाई वह पी.एम. हैं, अख़बार का या खुद का कोई काम हो तो बता देना, अब दिल्ली आये हो मिलते जाओ। तभी इत्तिफ़ाक से इन्दिरा जी का वहाँ से गुज़रना हुआ। उन्होंने मेरे हाल-चाल पूछे तो मैंने मुँहफट अन्दाज़ में कह दिया क्या हाल-चाल पूछती हैं, आपसे प्रेस के लिए इटली से एक आटोमेटिक मशीन मंगाने को कहा था, जब आप लखनऊ आयीं थी। मेरा अंदाज उन्हें बुरा लगा होगा फिर भी उन्होंने हैरानी ज़ाहिर करते हुए पूछा 'तो क्या मशीन अभी तक आयी नहीं?'

मैंने फिर उसी अंदाज़ में कहा, 'कहाँ आई'।

'किसी ने मुझे याद नहीं दिलाया होगा, वरना आपका काम अब तक हो गया होता, ख़ैर मैं अब देखती हूँ। मेरे लखनऊ वापस आने के कुछ माह बाद ही मशीन आ गयी।

विरोध और मिलन

अम्लान दत्त

मनुष्य स्वभावतः आत्मकेंद्रित होता है। यह मनुष्य का संपूर्ण परिचय नहीं है। लेकिन इसे भी व्यर्थ नहीं माना जा सकता है। आत्मकेंद्रित होने की जड़ यथार्थ के अनिवार्य गठन में निहित है। आत्मरक्षा की प्रवृत्ति प्राणीमात्र का आवश्यक अंग है। यह प्रकृति का प्राचीन नियम है। मेरा शरीर केवल मेरा ही है और आपका शरीर सिर्फ आपका।कोई दो व्यक्ति एक ही शरीर धारण करते हुए नहीं जीते हैं। इसलिए शरीर की रक्षा के लिए मनुष्य को प्राथमिक रूप में आत्मकेंद्रित होना ही पड़ता है। प्रकृति के इस नियम का पालन किये बिना आम आदमी के लिए जीवन-धारण करना असंभव होता है। इस बात को ठुकराया नहीं जा सकता, यद्यपि इसके बाद भी कुछ और जरूरी बातें शेष रह जाती हैं।

आत्मकेंद्रित होने के आधार हैं- अपना और पराया, वह और मैं। इन दोनों में भेदभाव भी इसका मूलाधार है। हाँलाकि इनमें विभिन्न प्रकार के रिश्ते हो सकते हैं। विरोध और मिलन का भी रिश्ता बन सकता है। पुनः मिलन के कई भेद हैं तो विरोध के भी। दरअसल, 'अपना' और 'पराया' के बीच विरोध तथा मिलन की विविधि वैकल्पिक संभावनाएँ मौजूद हैं। यहीं वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन की द्वन्द्वात्मकता का मूलसूत्र निहित है। इस विषय को जरा अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया जाये।

अपनी आलोचना के आवश्यकतानुसार 'अपने लोग' और 'पराये लोग' के भेद को समझने के लिए 'अपना' और 'पराया' शब्दों का प्रयोग किया जायेगा। अपने और पराये के पारस्परिक विरोध व मिलन की व्याख्या एवं विवरण प्रदान करना हमारा उद्देश्य है। विरोध की व्याख्या आसान है। जहाँ संसाधन सीमित हों और उसका आबंटन दो व्यक्तियों में होना है तो विरोध का एक सीधा कारण दिखाई पड़ता है। पराये व्यक्ति को ज्यादा मिल जाए तो अपने व्यक्ति को कम मिलेगा। ऐसी आशंका विरोध का कारण बन जाती है। यदि ऐसी कोई वस्तु हो, जैसे अलौलिक प्रेम अथवा आकाश का इंद्रधनुष या बिल्कुल सांसारिक अर्थ में अक्षरज्ञान हो तो ज्यादा या कम पाने की कोई आशंका नहीं रहती। ऐसी वस्तुओं को लेकर विरोध की स्थिति नहीं बनती है, जो भी दोनों को अभीप्सित हो परंतु परिणाम में असीमित न हो, वे सभी स्वार्थ व द्वंद्वकी परिधि में स्वाभाविक रूप से आ जाते हैं। किसी

का अक्षरज्ञान दूसरे के अक्षरज्ञान की प्राप्ति के मार्ग में बाधा बनकर नहीं आता। इसलिए इसे लेकर न तो विरोध की उम्मीद की जा सकती है और न ही तर्क की। यदि सुविधाओं के बँटवारे को लेकर सवाल खड़ा होता है तो कलह की संभावना बनी रहती है। सूत्रबद्ध रूप में कहा जा सकता है कि सीमित संसाधन या संपत्ति के अधिकार को लेकर दोनों में विरोध होता हैं। असीम के अधिकार पर कोई प्रतिद्वंद्विता नहीं होती। यदि होती भी है तो उसमें असीम का बोध नहीं होता।

विरोध का यह तत्त्व जितना भी मौलिक क्यों न हो, यह सत्य का केवल एक अंश होता है। किसी भी प्रत्यक्ष विरोध-प्रर्दशन से द्वन्द्वात्मकता के संपूर्ण रूप का पता नहीं चलता। जो भी विरोध में संभावित मिलन के रूप की खोज करते हैं वे पूर्णतया सत्य को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार की अभिव्यक्ति रहस्यवत् प्रतीत होती है। किसी एक स्तर पर यह दुनिया का भी एक रहस्य है। लेकिन इसका एक वस्तुगत आधार भी है। दोनों स्तरों की भाषाएँ भिन्न-भिन्न हैं। हमारी प्रवृत्ति यह होती है कि हम सहजबोध्य सांसारिक स्तर की भाषा में विषय को स्थापित करते हैं।

प्रतिद्वंद्विता के साथ-साथ सहकारिता की वास्तविक संभावना को ठुकराया नहीं जा सकता। जहाँ सीमित संसाधन को लेकर हमारी चिंता बनी रहती है, वहाँ केवल विरोध ही नहीं, स्वार्थ की पूर्ति को लेकर भी दूसरी बात सत्य होती है। इसका कारण और भी सहज है। संसाधन के आबंटन में विरोध निहित है। संसाधन की बढ़ोतरी से दोनों की सहकारिता सहायक होती है। उत्पादन में सहकारिता की परमावश्यकता है। कहीं-कहीं पर यह प्रयोजन इतना प्रत्यक्ष होता है कि इसे लेकर कोई तर्क नहीं किया जा सकता। जहाँ विरोध का अनुमान प्रबल हो वहाँ ऐसा परिवेश निर्मित किया जाता है कि दोनों पक्ष सहकारिता के मार्ग पर चलकर उपयुक्त होते हैं। पूँजीवादी राष्ट्र में भी ऐसा घटित होता है। इस आशय का उदाहरण प्रस्तुत करना कोई मुश्किल कार्य नहीं हैं। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद जापान व जर्मनी के कल-कारखाने, निवास-स्थान और युवा शक्ति का एक बड़ा भारी अंश बड़ी मात्रा में क्षतिग्रस्त होता है। उस शोचनीय दशा से देश को बचाकर उत्पादन शक्ति को अभूतपूर्व बढ़ाया जा सकता है। इसके लिए पूँजीपति और मेहनतकश मजदूरों की अनथक सहभागिता आवश्यक है। ऐसे में दोनों विरोधी वर्गों के मनुष्य का आर्थिक रूप से लाभ होता है। असमानता यहाँ भी मौजूद रहती है। इसलिए विरोधी भी है, फिर भी वर्ग निरपेक्ष सहकारिता और सामूहिक उन्नयन की बात को भी अस्वीकारा नहीं जा सकता। विरोध और सहयोग दोनों को मिलाकर ही इतिहास की व्याख्या संपूर्ण होती है। इस विषय पर हम थोड़ी देर बाद आते हैं।

मिलन और सहकारिता समानार्थी शब्द नहीं हैं। व्यावसायिक क्रियाकलाप में दोनों पक्ष सहयोगी होते हैं तो स्वार्थ की भावना में उनके बीच की भिन्नता का विलोप नहीं होता। मिलन में दोनों मिल-जुलकर मानो एकाकार हो जाते हैं। उत्पादन से किसी दूसरे विशेष क्षेत्र के साथ मिलकर मिलन अपना अनन्य अर्थगौरव प्राप्त करता है। जीव केवल अपने स्वतंत्र शरीर की हिफ़ाजत कर संतुष्ट नहीं होता है। प्रकृति ने उसमें संतानोत्पत्ति के माध्यम से कुल की रक्षा करने की इच्छा को स्थापित किया है। इसके साथ मिलन शब्द जुड़कर एक खास मतलब प्राप्त करता है। मिलन में 'अपना-पराया' का भेद-भाव कुछ हद तक मिट जाता है। व्यावसायिक सहकारिता में इसकी संभावना नहीं रहती।

इस विषय को व्यापक पृष्ठभूमि में समझने के लिए आत्मकेंद्रित होने के प्रसंग में लौटा जाए। परिवार में आत्मकेंद्रित होने की प्रवृत्ति का विस्तार होता है। आत्मीय कहने से केवल स्वयं को नहीं समझा जाता, परिवार के सभी लोग आत्मीय होते हैं। ऐसा सोचने की इच्छा जाग्रत होती है। भले ही कलह-झगड़े से मन की इच्छा बार-बार ठोकर खाती है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि एक ओर विशेष व्यक्ति से जुड़ने का अहंबोध होता है तो दूसरी ओर गुटबंदी के अनेक रूप दिखाई पड़ते

हैं। गुटबंदी अहं किसी सीमा में सर्वथा एक-सा नहीं रहता, उसकी व्याप्ति में परिर्वतन होता है। परिवार में अहं की प्रतिष्ठा होने की भाँति वृहत्तर अनुसूचित जाति या जनजाति में उसकी अभिव्यक्ति होती है। कभी-कभार अहंबोध दलगत होता है तो कभी कोई धर्म या संप्रदाय विशेष उसका आश्रय बनता है। सम्मिलित रूप से अनुगत बने रहने की प्रबलता विभिन्न कारणों से होती है। विशेष दल या संप्रदाय को आधार बनाकर व्यक्ति अपने अकेलेपन के भय कुछ मुक्त होता है। सुरक्षा की दिलासा व्यक्ति के संकीर्ण अहं को वृहत्तर समुदाय के अहं की ओर धकेलती हैं। शहर में परिवार के टूटने के साथ-साथ अकेलेपन को दूर करने के लिए सामूहिक उपजातिय अहंबोध का आकर्षण दिनोंदिन बढ़ रहा है। अपने व दूसरे दलों के बीच रिश्ता कितना विरोधात्मक होगा?यह सवाल बड़े मायने का बन जाता है। इसके साथ ही समाज में नीति-नियमों को लेकर कुछ जिज्ञासाएँ नये में उभरने लगती हैं।

परिवारिक सूत्र के अनुसार लंबे काल से मनुष्य के कुछ गुण विकसित होते आये हैं। उन्नीसवीं शती में किसी हितैषी ने कहा था, जिस घर में बीमार की सेवा नहीं होती वह घर अच्छा नहीं होता। घर-घर में कभी बीमारों की सेवा हुआ करती थी। पड़ोसी के सुख-दुःख में स्वतः शामिल होकर मनुष्य आनंदित हुआ करता था अथवा शोकग्रस्त होता था। ये सारे गुण परिवार व पल्ली समाज को एकता के सूत्र में बाँधने में समर्थ हैं। नगर-जीवन में इनका महत्त्व नहीं होता। नगर जीवन व नगर संस्कृति की विडंबनाएँ गाँव को अपने कब्जे में लेने लगी हैं। सामाजिक एकता की डोर ढीली पड़ रही है। टूटने के रास्ते पर कोई दूसरा संघबद्ध तनाव बढ़ने लगा है।

नगर संस्कृति के गुण हैं तो दोष भी। सभ्यता के विकास में नगर की भूमिका को कमतर नहीं आँका जा सकता है। पृथ्वी के समस्त भागों से भाँति-भाँति से विचारधाराएँ आकर नगरों में पहुँची हैं। देश को कूपमंडूकता से बचने के लिए इस बहती विचारधारा का स्पर्श जरूरी है। विचार के ह्रास के साथ-साथ नीति-आदर्शों की असंपूर्णता भी पाई जाती है। अपने समाज के आधार पर जो आचार-विचार प्रचलित हैं उससे आत्मीय-स्वजनों के प्रति पक्षपात करना अपने स्वभाव का अंग बन चुका है। अपने देश के सर्वोच्च स्तर पर भी यह पक्षपातिता पाई जाती है। किसी भी स्वस्थ आधुनिक समाज का निर्माण करना ऐसी स्थिति में संभव नहीं है। निरपेक्ष कानून के शासन का एक दूसरा आदर्श है जो उन्नत सुशील समाज में स्वीकृत है यद्यपि वह इस देश में सर्वत्र उपेक्षित है। न्याय हेतु आंदोलन खड़ा करने की आज सर्वाधिक जरूरत है। यह काम शहर में ही शुरू किया जा सकता है। परंतु इसे शहर की सीमा तक आबद्ध करने से काम पूरा न होगा। समाज को साथ लेकर समग्र दृष्टि सहित कार्य में अग्रसर होना जरूरी है। जिससे भी जितना, जैसे बन पड़े वह उतना काम करे परंतु एक समग्र दृष्टि होना जरूरी है।

'समग्र दृष्टि' का यह आशय नहीं कि समाज निर्माण में अनेकता न होगी। अथवा सब कुछ एकाकार कर देने की इच्छा होगी। आचार-विचार की दो मुख्य धाराओं का उल्लेख पहले किया जा चुका है। दोनों में कुछ मूल्यवान उपादान हैं। एक का निर्माण हुआ है आधुनिक सुशील समाज में, नगर सभ्यता में। दूसरा अत्यंत प्राचीन है। आत्मीय-समाज में उसकी उत्पत्ति हुई है। खास करके पल्ली-समाज में। प्रेम, सेवा, हार्दिक लगाव के आधार पर निर्मित आत्मीय-समाज के ऐतिह्य से आज भी हमें कुछ अपनाना है, भविष्य में भी अपनाना होगा। व्यक्ति स्वातंत्र्य और प्रतिवादी विवेक व मूल्य में विश्वास करने वाले तर्कशील और विज्ञानसम्मत विचार वाले नारी-पुरुष निरपेक्ष सामाजिक समानता के आदर्शों से उद्‌बुद्ध नगर समाज के नए विचारवान मनुष्य को कुछ प्रदान करना शेष है। इन दोनों धाराओं की विभाजन रेखा को मिटा देने की प्रबल इच्छा से परिणाम के अच्छे होने की उम्मीदें पालना अनुचित है। बल्कि देशभर में इन्हें एकाकार करने की चेष्टा से दोनों के अधोपतन की

संभावना को ठुकराया नहीं जा सकता। हो सकता है ये दोनों कुछ दूरी बनाए रखते हुए मित्रवत् एक दूसरे को प्रभावित करेंगे। इस कुशल विचार की कामना की जा सकती है। दोनों ऐतिह्यों का सहावस्थान और इनमें संतुलन स्वस्थ समाज के लिए आवश्यक है। ग्राम्य और नगर दोनों की कुछ विशेषताओं को बचाए रखने में भलाई है।

आर्थिक और राष्ट्रीय शक्ति के रूप में नगर का बड़ा महत्व है। पल्ली समाज टूटने के कगार पर है। इस टूटन को अनेक अनिवार्य मानते हैं। भारत जैसे देश में इसका परिणाम पल्ली व नगर दोनों के लिए हानिकर हो सकता है। यह हानि मानसिक तथा भौतिक दोनों क्षेत्रों में हो सकती है। भौतिक हानि के बारे में दो-चार बातें संक्षेप में होनी चाहिए। गाँव के विस्थापित मनुष्यों को पर्याप्त संख्या में स्वस्थ आजीविका प्रदान करना नगर के बूते का नहीं है। नगर तो स्वयं अस्वस्थ है, बीमार है। ध्वस्त-विध्वस्त गाँव उसे अधिक बीमार बनायेगा। अपराधीकरण को बढ़ावा देगा। गाँव और नगर दोनों का मतलब इससे पूरा होगा कि गाँव को अधिक स्वस्थ और कार्य-क्षम बनाया जाये। इसके लिए विकसित कृषि, भू-संरक्षण, जल संरक्षण, वन-संरक्षण, वृक्षारोपण, हरीतिमा एवं सर्वोपरि अधिक सहायक संगठन और सेवा आवश्यक है। कभी कृषि के साथ-साथ कुटीर उद्योग था। इस पूरक व्यवस्था के अलावा समाज तथा अर्थनीति कमजोर और अधूरे हो जाते हैं। आजीविका बिल्कुल अपर्याप्त हो जाती है। शहर के निवासियों का मानना है कि कृषि के लिए गाँव है तो उद्योग के लिए नगर। यह सही विचार नहीं है। बड़े उद्योगों की आवश्यकता है परंतु इनका नगरों से संबंधित होना अनुचित है। छोटे उद्योगों का कृषि से अभिन्न रूप से जुड़ना आवश्यक है। आंचलिक उपकरणों से जुड़ना चाहिए। मिट्टी के साथ जुड़े छोटे उद्योगों का होना भी जरूरी है। इसके साथ इस कर्मकांड में सहायक तमाम विषय आ जाते हैं जैसे पल्ली के लिए उपयोगी स्वास्थ्य व शिक्षा-व्यवस्था, लघु बचत, ऋणदान हेतु विशेष संस्थाएँ, पंचायत की भूमिका और पल्ली संगठन को लेकर कुछ उन्मुक्त विचार। अंततोगत्वा समाज-दर्शन के साथ मिलाकर उद्योगनीति को समझा जाता है। भारत में जनतंत्र ही सामाजिक एकता का रक्षा-कवच है। सामाजिक एकता को विपन्न बनाकर उद्योगीकरण साम्य नहीं है।

मनुष्य अतीत से सीख लेकर भविष्य के मार्ग पर चलता है। इसके लिए एक स्वस्थ विचारपरक इतिहासबोध आवश्यक है। यह काम कदम-कदम पर नाना भाँति बाधित हुआ है। स्वस्थ और संतुलित दृष्टि के साथ अतीत की ओर ताकना आसान काम नहीं है परंतु यथार्थ और कल्पना में सम्मिलित अतीत के कड़ुवे या रोमांचकारी अनुभूति की स्मृति के प्रभाव से बाधा आती है। अँगरेज शासन के इतिहास को पाकिस्तानी या भारतीय शोधार्थी जिस दृष्टि से देखते हैं। अनेक अँगरेज उस नजर से नहीं देखते। पुनः समकालीन अनुभूतियाँ हमारे मन को ऐसे आच्छादित किए रहती हैं कि तटस्थ इतिहासबोध दुःसाध्य हो जाता है। विरोध का कोई एक खास साँचा मन को कब्जे में ले लेता है। एक उदाहरण अप्रासंगिक न होगा। कार्ल मार्क्स का इतिहास-दर्शन स्मरणीय है। उन्होंने जो कहा था, उसकी व्याख्या को लेकर तर्क किया जा सकता है लेकिन उसके प्रभाव को अस्वीकारा नहीं जा सकता। उन्नीसवीं शताब्दी के जिस कालखंड में और जिस भू-भाग में बैठकर उन्होंने चिंतन किया था वह आधुनिक औद्योगिकीकरण का पहला युग था। अमीर और मजदूरों के बीच तीव्र विरोध था। वहां खड़े होकर अतीत की ओर देखते हुए मार्क्स को लगा कि सभ्यता के पूरे इतिहास में वर्ग-संघर्ष ही मूल विषय है। यह इतिहास को नियंत्रित करता है। समानता के आदर्श के बारे में मार्क्स के साथ दूसरे प्रगतिवादी चिंतकों ने जिस चिंतन का प्रचार किया है, उसका मनन करना आवश्यक है। उनके विचार श्रद्धेय हैं। इनमें से अधिकांश मानवतावादी थे। विरोध को भुलाकर मानव-समाज में एकता की प्रतिष्ठा करना इनका उद्देश्य था। विरोध की प्रकृति के बारे में साम्यवादी तत्त्व में थोड़ी असंपूर्णता है। वर्ग संघर्ष के बावजूद पारस्परिक सहयोगिता भी होती है। इसका महत्व कम नहीं है।

पुनः द्वंद्वात्मकता के बाहर भी समाज में विरोध है जो जटिल तथा भयानक हैं। भौतिक स्वार्थ का द्वंद्वसामाजिक द्वंद्व-संघर्ष का एक कारण है लेकिन इसके साथ-साथ और भी कुछ आदिम प्रवृत्ति, अंधापन और विद्वेष गुटबंदी, जंगलीपन आदि को खुराक जुटाती आई हैं। इतिहास में इनका प्रभाव सघन और कष्टदायक है। देश ही नहीं पूरी दुनिया में इस ओर सावधानी बरतना आवश्यक है। अंधेपन की ताकत को कमतर आँका जाए तो उस पर विजय पाना अधिक कठिन हो जाता है।

वाणिज्य और उद्योग क्रांति के दौरान समाजवादी विचारधारा का उद्‌भव हुआ। उस काल में पश्चिमी उदारनीतिपरक विचार का भी विकास हुआ है। इसके साथ संसदीय जनतांत्रिक व्यवस्था भी जुड़ी हुई है। इस जुड़ाव के विशेष ढंग का ख्याल करना चाहिए। व्यापारी वर्ग विभिन्न गुटों में विभाजित है। राजनीतिक दल गुटबंदी के प्रतिनिधित्व करने के अभ्यस्त हैं। इस प्रकार वाणिज्यिक समाज के साथ दलगत राजनीति का गहरा संबंध स्थापित हुआ है। पूर्ण उदारनीति तथा जनतांत्रिक आदर्श के साथ दलगत व्यवस्था का संबंध होना आवश्यक नहीं है। इस मुद्‌दे पर गंभीरता के साथ विवेचन करना चाहिए।

जनतांत्रिक आदर्श की मूल शर्त है दूसरों के विचारों के प्रति सहनशील होना। विभिन्न धर्मों के शांतिपूर्ण सहावस्थान के साथ-साथ इस शर्त को ऐतिहासिक रूप में शामिल किया गया है। कठोर दलबद्धता मूल बात नहीं है, विरोध में से एकता की सहनशील खोज ही असली बात है। विभिन्न गुटों में विभाजित जाति व संप्रदाय से एक वृहत्तर एकता प्रतिष्ठित होती है। इस वृहत्तर एकता साधन को सर्वाधिक सहमति के आधार पर स्थापित करना जनतंत्र का उद्‌देश्य है। इसके लिए अल्पसंख्यक लोगों और संप्रदायों के लिए कुछ रक्षाकवच या अधिकारों की स्वीकृति आवश्यक है। समाज के सभी वर्गों के व्यक्तियों के लिए समान अवसर और सहज पद्धति तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता आवश्यक है। ये सभी जनतंत्र के मूल तत्व हैं। इनके साथ कुछ बाह्य व्यवस्थाएँ जुड़ी रहती हैं जो किसी विशेष अवस्था में आवश्यक या अनावश्यक होती हैं। वृहत् व्यापारिक समाज में और राजधानी में दलबद्ध संगठन की जो प्रयोजनीयता होती है, पल्ली में नहीं होती। ग्राम-विकास के कार्य में आत्मीय समाज के भावगत आदर्श की उपयोगिता को उपेक्षित करना गलत होगा। विरोध यहाँ भी आवश्यक है लेकिन विरोध और सहयोग के गठबंधन से यहाँ एक दूसरा रूप मिल सकता है। संसदीय तथा दलगत जनतंत्र का जो ढर्रा पश्चिमी व्यावसायिक दुनिया को लुभाता है, अपने ग्रामीण समाज में उसकी नकल पर विचार में दीनता प्रकट होती है। उद्‌देश्य के साथ उपाय का, परिस्थिति के साथ पद्धति का सामंजस्य बनाए रखना जरूरी है। उद्‌देश्य के बारे में विचार का सुथरापन, उपाय और पद्धति को लेकर सावधानीपूर्वक कल्पना और जाँच-पड़ताल करना आवश्यक है। इसलिए सृजनशील संस्कृति की युगों तक आवश्यकता है।

भारतीय समाज, विशेषकर बंगला समाज में उन्नीसवीं शती का नवजागरण एक स्मरणीय ऐतिहासिक घटना है। यह सृजनशीलता का एक उल्लेखनीय उदाहरण है। इक्कीसवीं शताब्दी में एक दूसरे नवजागरण की प्रयोजनीयता है। भारत के पूर्वी प्रांत में उन्नीसवीं शताब्दी का वह आंदोलन मूलतया कलकत्ता महानगरी केंद्रित था। पश्चिमी संस्कृति की तुलना में भारतीय ऐतिह्य का नवीनीकरण और दोनों में यथासंभव समन्वय साधन करना तत्कालीन सृजनशील और प्रतिभावान मनुष्य का लक्ष्य था। आज जो नवजागरण साम्य है, उसकी व्यापकता, चरित्र और उद्‌देश्य भिन्न होंगे। महानगरी इसका केंद्र नहीं बन सकती। पल्ली और नगर के बीच समन्वय साधन करना आने वाले नवजागरण का मूल उद्‌देश्य होगा। इसके कुछ विशेष कारण हैं। आज की परिस्थितियाँ और सामाजिक समस्याएँ विगत युग से नितांत भिन्न है।

उन्नीसवीं शती का उभरता मध्यवर्ग भारतीय समाज में उच्चवर्ग मनुष्य तक सीमित था। इनकी

संख्या बहुत कम थी। पिछले कुछ दशकों में इस देश में समाज के निम्न वर्ग में भी एक नया मध्यवर्ग का उदय हुआ है। इनकी तादाद और उम्मीदें बढ़ रही हैं। नया नेतृत्व उभर रहा है। इन दोनों स्तरों के नेतृत्व में सहकारिता स्थापित करना फिलवक्त हमारा मुख्य कर्त्तव्य है। आजीविका का अभाव परिस्थिति को अधिक जटिल बनाता है। जनसंख्या की तेज बढ़ोतरी से समस्या अधिक गंभीर हो उठी है। औद्योगिकीकरण की आवश्यकता है परंतु उसके आकार-प्रकार को लेकर विशेष रूप से चिंतन-मनन करने का वक्त आ गया है। इस बात को रेखांकित किया जाना चाहिए।

सबसे पहले इस गलत धारणा को त्यागना जरूरी है कि केवल नगर आधारित वृहत् उद्योगों के सहारे देश के लोगों को आजीविका के पर्याप्त अवसर दिये जा सकते हैं। सातवीं पंचवार्षिक योजना के दौरान अर्थात् पिछली शती के अस्सी के दशक में कहा गया था- "The potential of direct employment generation in large-scale industries is not high because these industries are fairly capital-intensive." अर्थात् वृहत् उद्योगों में प्रत्यक्ष रोजगार उत्पादन की क्षमता नहीं है क्योंकि ये उद्योग पूर्णतया पूँजी केंद्रित हैं। वृहत् उद्योगों के साथ-साथ लघु उद्योग, कृषि के पूरक ग्रामीण उद्योग भी चाहिए। इस देश का शहरी मन इन बातों पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने को आग्रही नहीं है। इस पर समग्र दृष्टि से सोचना आवश्यक है। पश्चिमी उदाहरण इस संदर्भ में ऐतिहासिक कारणों से भ्रांतिमूलक हैं। भारत की परिस्थितियाँ भिन्न हैं। उसका मार्ग भी अलग होगा। इसके अलावा समस्या का हल नहीं हो सकता। गाँव और नगर के बीच स्वस्थ सहयोग स्थापित न हुआ तो देश में अस्थिरता बढ़ेगी। यहाँ खड़े होकर अपने वृहत् समाज में विरोध व मिलन की समस्या को गहराई से सोचना होगा, उस विचार-मंथन के जरिये आने वाले युग के लिए नया आंदोलन खड़ा करना होगा।

दोनों जागरणों के बीच रवींद्रनाथ योग्यतम संबंधसूत्र बन सकते हैं। ताज्जुब है कि उनके विचारों में इस काल के अनेक प्रश्नों के उत्तर निहित हैं। ग्राम्य पुनर्गठन, औद्योगिकीकरण की रूपरेखा को लेकर पुनर्विचार, नारीमुक्ति, गाँव व नगर के बीच संपर्क एवं संतुलन, परिवेश योजना आदि विचार युगोपयोगी विषय हैं। कुछ और जरूरी सवाल आज भी भावविह्वल मन को विचलित करते हैं। मानवतावादी दृष्टि में राजनीति और समाज संगठन के बारे में पुनर्विवेचन, प्रतिवादी आंदोलन का मार्ग व पद्धति के बारे में पर्यालोचन, विज्ञान, मूल्यबोध और चेतना के विविध स्तर संबंध समन्वयोन्मुखी जीवनदर्शन आदि इक्कीसवीं शताब्दी के नवजागरण के विचार और कर्म के दिशानिर्देशक हैं। विचार और कर्म दोनों आवश्यक हैं।

हो सकता है कि अब तक कुछ पाठक अपने धैर्य खो चुके हों। कौन लेगा यह भार अपने कंधों पर? यह सवाल कोई भी पूछ सकता है। हममें से अधिकांश अत्यधिक मात्रा में सरकारी प्रयास पर निर्भर रहने के आदी बन चुके हैं। इस आदत के विरुद्ध रवींद्रनाथ ने अपने देशवासियों को सचेत कराया था। सरकारी प्रयास से इसे पूरा नहीं किया जा सकता है। यह तय है। मूल प्रश्न तो छूट गया। कहा जायेगा, मनुष्य व्यक्ति स्वार्थ से प्रेरित होकर काम करता है। आलोच्य आंदोलन देश के समग्र स्वार्थ के लिए जितना आवश्यक है उतना वर्ग विशेष के स्वार्थ की दृष्टि से नहीं। तब फिर काम पूरा होने से रहा। ऐसा तर्क जो देते हैं, उन्हें हिलाना मुश्किल है। फिर भी एक बात तो कही जा सकती है।

प्रेम का एक आकर्षण ऐसा होता है कि वह बार-बार ऐसे अनेक लोगों को अपनी ओर खींचता है जो व्यक्तिस्वार्थ से परे होते हैं। मध्यवर्ग के जो लोग साम्यवादी आंदोलन में शामिल हुए थे उनका भौतिक स्वार्थ आंदोलन से संबंधित न था। हमारी आँखों के सामने तमाम युवकों ने रामकृष्ण-विवेकानंद के प्रभाव से घर छोड़े थे। यहाँ भी स्वार्थ नहीं था अन्य कोई आदर्श था, आकर्षण था। बावजूद इसके संसार में कुछ अनुभवी प्रवीण सिर धुनकर कह सकते हैं, आजकल के

बच्चे दूसरे ढंग के हैं। क्या इस बात का कोई जवाब है? यद्यपि उत्तर किसी पागल के जवाब की तरह प्रतीत हो सकता है, फिर भी कहता हूँ कि लड़के फिसड़ जाते हैं तो लड़कियाँ आगे बढ़ेंगी। लेकिन लड़कियाँ भला अपने स्वार्थ से परे क्या काम करना चाहेंगी? उनकी लड़ाई जारी है नारी अधिकार के लिए। उस संग्राम को पुरोगामी नारी किसी बृहत्तर आंदोलन के साथ जोड़ती है तो आसानी से माँग पूरी होगी और वह किसी गौरव की अधिकारिणी बनेगी। क्या इसी रूप में इतिहास का एक नया अध्याय लिखा नहीं जा सकता?

जहाँ से बात शुरू की गई थी यानी अहं और व्यक्तित्व का प्रसंग, वहाँ लौटकर इस चर्चा को समाप्त किया जाये। जिन लोगों ने जीवन को अत्यंत निकट से देखा है उन्हें मालूम है कि कुछ विरोधी बातें एक साथ सत्य होती हैं। मनुष्य की तीन पहचानें हैं- भयार्त्त, स्वार्थी और प्रेमी। इन्हें एक साथ देखें तो मनुष्य का पूर्ण परिचय मिल सकता है। भयार्त्त मनुष्य आत्मरक्षा को लेकर परेशान रहता है। इसके बारे में चर्चा के शुरू में बताया जा चुका है। स्वार्थी व्यक्ति विशेषतः व्यापार की दुनिया में दिखाई पड़ता है। इसकी भी चर्चा हो चुकी है। इन दोनों से परे एक मनुष्य है। वह महान विश्व को अपने में पाना चाहता है। अपने को ढूँढता है महान विश्व में। ऐसा कभी विशुद्ध तर्क के मार्ग पर घटित होता है तो कभी निष्कपट प्रेम में। शुद्ध तर्क विश्वास करता है कि महान विश्व में नीति-नियमों का राज चलता है। निर्जीव संसार की अपनी भाषा होती है। वैज्ञानिक अपने अनुसंधानों में जुट जाते हैं उसे ढूँढ़ने के लिए। विश्व के नीति-नियमों को जानने के लिए। उनसे अनुसंधान कभी समाप्त नहीं होते फिर भी वे अपने विश्वास के बल पर अपने में विश्व को पा लेते हैं। पवित्र प्रेमी दूसरे मार्ग पर चलकर विश्व को प्राप्त करता है।

मनुष्य कुछ भी अपनी प्रेम की आँखों से देखता है तो उसकी चेतना में कंपन्न उत्पन्न होता है। उस कंपन को मनुष्य संगीत में पकड़ना चाहता है। यह एक विशेष दृष्टि होती है- ''गान में जब देखता हूँ इस भुवन को/तभी पहचानता हूँ उसे/ तभी जानता हूँ उसे।'' व्यस्त दुनिया में रवींद्रनाथ के हृदय में एक बाउल निवास करता है। इस निबंध में अनेक स्थलों पर गाँव और नगर की कथा कही गई है। नगर में हिसाबी मन (स्वार्थी मन) का वर्चस्व है। गाँव और नगर दोनों के किनारे ग्राम्य चेतना आंदोलित होती है। एक ओर है भीतत्रस्त मनुष्य जिसे कुसंस्कारों ने कवलित करना चाहा है। दूसरे किनारे वह बाउल प्रतिष्ठित है जो पागल भी है। तर्कशील मन कुसंस्कारों से गाँव का उद्धार करना चाहेगा। इस पर कोई एतराज न होना चाहिए। मनुष्य को पागल बाउल की जरूरत है। नगर अपनी श्रेष्ठता का विश्वासी है। यह विश्वास अंततोगत्वा अंशतः सत्य होता है। पुनः यह अंशतः मिथ्या भी है। हिसाबी मन का एकाधिकार मनुष्य के लिए अंतहीन प्रवास के समान होगा। मनुष्य की चेतना की संस्थिति के लिए गाँव तथा नगर के बीच संतुलन होना आवश्यक है। आज महाचिति भी यही बात दूसरे शब्दों में कह रही है। आज सब कुछ अस्थिरता के चपेट में है। उसे अतिक्रमित करने के प्रयास में हमें स्थायित्व के मार्ग पर चलना होगा। यही विरोध और मिलन की रीति है।

अनुवाद : अरुण होता

लेखकों के पते

नदीम हसनैन, प्रोफेसर, मानव विज्ञान, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
संदीप पाण्डेय, ए-893 इंदिरा नगर, लखनऊ-226016, फ़ोन : 0522-2347365
ई-मेल : ashaashram@yahoo.com
वासंती रमण, सदस्य आई.सी.एस.एस.आर; विज़िटिंग फ़ैलो,सेण्टर फॉर डेवलपमेण्ट स्टडीज़, नई दिल्ली। मोबाइल : 9868720594
रमेश दीक्षित, प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
शीतला सिंह, सम्पादक 'जनमोर्चा', जनमोर्चा इंडस्ट्रियल इस्टेट,गद्दोपुर,फ़ैज़ाबाद-224001(उ.प्र.) मोबाइल : 9415047555 ई-मेल : sheetal_singh@rediffmail.com
विजेंद्र, सी-133 वैशाली नगर, जयपुर-302021 (राजस्थान)
ज्ञानेंद्रपति, बी-3/12 अन्नपूर्णा नगर, विद्यापीठ मार्ग, वाराणसी-221002
अरुण कमल, 4 मैत्री शांति भवन, बी एम दास रोड, पटना-800004 बिहार
बद्रीनारायण, गोविंद बल्लभ पंत सामाजिक विज्ञान संस्थान, झूंसी,इलाहाबाद-211019 (उ.प्र.)
नमिता सिंह, 28एम.आई.जी., अवंतिका-1, रामघाट रोड, अलीगढ़
नीलाभ, 219/9 ब्लैक ए-2, भगत कॉलोनी, संत नगरी, बुराड़ी, दिल्ली-110084
गंगा प्रसाद विमल, 112 साउथ पार्क, कालका जी, नई दिल्ली-110019
मृदुला गर्ग, ई 421(भूतल) जी के-2, नई दिल्ली-110048,
ई-मेल : mridula.garg7@gmail.com
प्रो. दीपक मलिक, निदेशक, गांधी अध्ययन संस्थान, वाराणसी
से.रा.यात्री, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)
रवि चतुर्वेदी, विभागाध्यक्ष, नाट्यकला एवं फ़िल्म अध्ययन विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र) मोबाइल : 9314653883
गोविंद मिश्र, एच एक्स-94, ई-7 अरेरा कॉलोनी, भोपाल-462016
शकील सिद्दीकी, एम.आई.जी.-317 फेज़-11,टिकैत राय, एल.डी.ए. कॉलोनी, मोहन रोड, लखनऊ-226017
अरुण होता, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग, पश्चिम बंगाल राज्य विश्वविद्यालय, बारासात, 24 परगना,उत्तर कोलकाता-700126 मोबाइल :9434884339
ई-मेल : ahota5@gmail.com

बहुवचन

लेखकों से अनुरोध

- लेख (फुटनोट/संदर्भ सहित) अधिकतम 6500 शब्दों का हो।

- लेख के अंत में अपना नाम,पता,फोन आदि का उल्लेख करें। लगभग 40-50 शब्दों में अपना संक्षिप्त परिचय भी दें।

- लेख स्पष्ट एवं पठनीय हों तथा पन्ने के एक तरफ़ लिखे गये हों. बेहतर होगा कि लेख को टाइप करके भेजें -14 प्वाइंट या अधिक,डबल-स्पेस में, पन्ने के एक तरफ़ ही टाइप करें।

- चित्र एवं अन्य कॉपीराइट-सुरक्षित सामग्री के संदर्भ में : लेख में उपयोग हेतु आवश्यक अनुमति लेना लेखक का उत्तरदायित्व होगा।

- अस्वीकृत होने की दशा में लेखों को वापस करना सम्भव नहीं होगा अतः लेख की मूल प्रति अथवा कॉपी अपने पास सुरक्षित रखें।

- लेख के साथ भेजे गये पत्र में इस बात का उल्लेख अवश्य हो कि यह लेखक की मौलिक,अप्रकाशित रचना है तथा इसको प्रकाशन हेतु अन्यत्र नहीं भेजा गया है।

लेख आप pvc@hindivishwa.org पर ई-मेल कर सकते हैं अथवा रजिस्ट्रीकृत डाक से निम्न पते पर भेज सकते हैं -

सम्पादक,बहुवचन
प्रतिकुलपति कार्यालय
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
गांधी हिल्स, वर्धा- 442001 (महाराष्ट्र)
फोनः +91-7152-254 753, 7152-252148